ಕರ್ನಾಟಕ ರಾಜ್ಯ ಮುಕ್ತ ವಿಶ್ವವಿದ್ಯಾನಿಲಯ
ಮಾನಸಗಂಗೋತ್ರಿ, ಮೈಸೂರು – 570 006.

Karnataka State Open University
Manasagangothri, Mysore - 570 006.

नाटक

ध्रुवस्वामिनी

M. A. Previous HINDI
Course / Paper - III

Block - 4

ಉನ್ನತ ಶಿಕ್ಷಣಕ್ಕಾಗಿ ಇರುವ ಅವಕಾಶಗಳನ್ನು ಹೆಚ್ಚಿಸುವುದಕ್ಕೆ ಮತ್ತು ಶಿಕ್ಷಣವನ್ನು ಪ್ರಜಾತಂತ್ರೀಕರಿಸುವುದಕ್ಕೆ ಮುಕ್ತ ವಿಶ್ವವಿದ್ಯಾನಿಲಯ ವ್ಯವಸ್ಥೆಯನ್ನು ಆರಂಭಿಸಲಾಗಿದೆ.

ರಾಷ್ಟ್ರೀಯ ಶಿಕ್ಷಣ ನೀತಿ 1986

The Open University system has been initiated in order to augment opportunities for higher education and as an instrument of democratising education.

National Education Policy 1986

प्रथम एम.ए. - कोर्स तीसरा

Course - III, Paper - III

4

''आधुनिक गद्य एवं निबंन्ध, नाटक, नाटिका, एकाँकी, उपन्यास और कहानी साहित्य''

''नाटक ध्रुवस्वामिनी ''

Unit No. 13 to 16		Page No.
अनुक्रमणिका		

इकाई	13	नाटककार प्रसाद	1 - 26
इकाई	14	ध्रुवस्वामिनी - एक विवेचन	27 - 42
इकाई	15	ध्रुवस्वामिनी प्रमुख पात्रों की परिचय	43 - 60
इकाई	16	गौण पात्रों का परिचय	61 - 82

पाठ्यक्रम अभिकल्प तथा संपादकीय समिति

प्रो.एम.जी.कृष्णन
उप कुलपति तथा अध्यक्ष
क.रा.मु.वि.विद्यालय,
मैसूर - 6

प्रो.एस.एन.विक्रमराज अरस
डीन (शैक्षणिक) - संयोजक
क.रा.मु.वि. विद्यालय
मैसूर - 6

डॉ.कांबले अशोक संयोजक
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
क.रा.मु.वि.विद्यालय, मानस गंगोत्री
मैसूर - 6

डॉ.एम.विमला संपादिका
प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
ज्ञानभारती, बेंगलूर विश्वविद्यालय
बेंगलूर - 56.

पाठ्यक्रम की लेखिका

डॉ.प्रतिभा मुदलियार
रीडर, हिन्दी विभाग
मैसूर विश्वविद्यालय
मैसूर.

कर्नाटक राज्य मुक्त विश्वविद्यालय, मैसूर, शैक्षणिक अनुभाग द्वारा निर्मित । सभी अधिकार सुरक्षित । कर्नाटक राज्य मुक्त विश्वविद्यालय से लिखित अनुमति प्राप्त किए बिना, इस कार्य के किसी भी अंश को किसी भी रूप में अनुलिपित या किसी अन्य माध्यम द्वारा प्रतिकृति नहीं किया जाएगा ।

कर्नाटक राज्य मुक्त विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम पर अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मानस गंगोत्री, मैसूर -.6 से प्राप्त की जा सकती है ।

कर्नाटक राज्य मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से **रजिस्ट्रार (प्रशासन)** द्वारा मुद्रित व प्रकाशित ।

ब्लाक परिचय

प्रिय विद्यार्थी,

कोर्स - एक में आपने **'कर्नाटक संस्कृति एवं कन्नड़ साहित्य'** का अध्ययन किया ।

कोर्स - दो में आपने **'आधुनिक हिन्दी काव्य'** के बारे में अध्ययन किया और कविवर 'जयशंकर प्रसाद', 'मैथिलीशरण गुप्त', 'रामधरी सिंह दिनकर' और 'सूर्यकांत त्रिपाठी निराला' तथा 'नयी कवियों' के बारे में जानकारी प्राप्त कर लीं ।

अब आप **कोर्स - तीन** में **'आधुनिक गद्य एवं निबन्ध'** में हिन्दी के निबंध, नाटक, नाटिका, कहानी, एकांकी और उपन्यास के बारे में जानेंगे और 'जयशंकर प्रसाद विरचित 'ध्रुवस्वामिनी' भारतेन्दु कृत 'चन्दावली नाटिका' और 'हिन्दी के श्रेष्ठ निबन्ध' तथा 'एकाँकी वैभव' का भी अध्ययन करेंगे । 'कहानी कौस्तुभ' नामक कहानी संकलन का भी अध्ययन करेंगे । इसके अलावा आप 'जैनेन्द्र' कृत 'त्याग पत्र' तथा भीष्म साहनी का 'तमस्' उपन्यासों के बारे में भी जानकारी प्राप्त करेंगे । इससे आपने आधुनिक गद्य तथा नाटक, नाटिका, एकाँकी और उपन्यास, कहानी से परिचित होंगे ही ।

कोर्स तीन - ब्लाक - एक में आपने हिन्दी निबंध साहित्य, आचार्य शुक्ल और उनके निबंध - 'श्रद्धा-भक्ति' और 'उत्साह', हजारीप्रसाद द्विवेदी और उनके निबंध, विष्णु प्रभाकर के निबंध तथा विद्यानिवास मिश्र और उनके निबंध के बारे में और **ब्लाक - दो** में आपने विष्णु प्रभाकर के निबंध, विद्यानिवास मिश्र और उनके निबंध एवं नाटिका चन्द्रावली के बारे में एवं **ब्लाक - तीन** में आपने नाटिका चन्द्रावली में प्रेम और भक्ति का स्वरूप, भाषा और काव्य-तत्व और नाटक ध्रुवस्वामिनी में नाटक का स्वरूप और विवेचन एवं नाटककार प्रसाद के बारे में जानकारी प्राप्त कर लिया ।

अब आप **ब्लाक - चार** में नाटककार प्रसाद, ध्रुवस्वामिनी के प्रमुख पात्रों की परिचय और गौण पात्रों का परिचय के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे ।

शुभकामनाओं के साथ,

डॉ.कांबले अशोक
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
क.रा.मु.वि. विद्यालय
मानस गंगोत्री
मैसूर - 6.

इकाई तेरह : प्रसाद की नाट्य-कला

इकाई की रूपरेखा

13.0. उद्देश्य

13.1. प्रस्तावना

13.2. जयशंकर 'प्रसाद' का जीवनवृत्त

13.3. प्रसाद का व्यक्तित्व

13.4. प्रसाद का जीवन दर्शन

13.5. नाटकार प्रसाद

13.6. प्रसाद जी की नाट्यशाला की कतिपय निजी विशेषताएँ

13.9.6.1. प्रसाद के नाटकों में ऐतिहासिकता

13.9.6.2. प्रसाद के नाटकों में भारतीय संस्कृति के भव्य रूप का चित्रण

13.9.6.3. प्रसाद के नाटकों में कवित्व तथा गीत-योजना

13.7. प्रसाद जी का देशप्रेम तथा उनकी राष्ट्रीय भावना

13.8. प्रसाद के नाटकों में दार्शनिकाता

13.9. प्रसाद के नाटकों में भारतीय एवं पाश्चात्य पद्धतियों का समन्वय

13.10. प्रसाद के नाटकों में नारी पात्रों का महत्वपूर्ण स्थान

13.11. प्रसाद के नाटकों में कुछ आक्षेप और समाधान

13.12. बोध प्रश्न

13.0. उद्देश्य

पिछले इकाई में आपने नाटककार प्रसाद का नाट्य-साहित्य के बारे में अध्ययन किया । अब इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जयशंकर प्रसाद के जीवन-चरित्र, व्यक्तित्व, साहित्य आदि के बारे में जानेंगे ।

13.1. प्रस्तावना

इस इकाई में आपने प्रसाद का जीवन वृत्त, जीवन दर्शन, नाटककार प्रसाद के बारे में अध्ययन करने जा रहे हैं । तत्पश्चात् प्रसाद की नाट्य-शाला की कतिपय विशेषताओं के बारे में भी जानकारी प्राप्त कर रहे है । साथ में प्रसाद के नाटकों में ऐतिहासिकताओं भारतीय तथा पाश्चात्य संस्कृति का समन्वय आदि जानेंगे । इसके अलावा प्रसाद के साहित्य में अति प्रमुख विशेषता उनका देश प्रेम तथा राष्ट्रभक्ति के बारे में भी अध्ययन करने जा रहे हैं ।

13.2. जयशंकर 'प्रसाद' का जीवनवृत्त

'साहित्य' साहित्यकार की आत्माभिव्यक्ति है । वह अपने जीवन की अनुभूतियों को व्यक्त करता है । अतः साहित्य और साहित्यकार एक दूसरे के पूरक होते हैं । साहित्यकार का जीवन उसके अपने वंशगत संस्कार, शिक्षा एवं चारों ओर के वातावरण से प्रभावित होकर नए नए मोड़ लेता रहता है । परिस्थितियों से उद्‌भुत विभिन्न घटनाएँ उसके जीवन में घटती रहती हैं जिनसे उसकी विचारधारा परिपक्व होती हुई प्रगति के पथ पर अग्रसर होती रहती है । विचारधारा के इसी विकास का कलात्मक रूप उसके साहित्य में नए नए रूप धारण कर निखरता है । अतएव किसी भी रचना की आलोचना करने के पूर्व रचयिता के जीववृत्त, व्यक्तित्व और जीवनदर्शन से परिचित होना अत्यंत आवश्यक है ।

जयशंकर प्रसाद जी का जन्म माघ श्रृक्ल 12 संवत् 1946 को काशी के एक ऐसे वैभवपूर्ण वैश्य परिवास में हुआ, जहाँ कहावत है - ''सोने की कटोरी में दूध-भात खाते हैं'' । उनका परिवार सुंघनी का निर्माण तथा व्यापार करने के कारण 'सुंघनी साहु' के नाम से सुविख्यात थे । उनके पितामह का नाम था - श्री शिवरत्न साहु और पिता का नाम था - श्री देवी प्रसाद साहु । वे दोनों सज्जन बड़े धर्मनिष्ठ उदारात्मा और विद्याप्रेमी थे । उनके यहाँ नित्य कवियों, गायकों और कलाकारों की गोष्ठी होती थी । अतः घर पर साहित्यिक वातावरण बना रहा । इसी वातावरण ने बालक प्रसाद के अंतःकरण में साहित्यकार बनने के संस्कार जमा दिए । इस कथन की पुष्टि में प्रसाद के बचपन की एक महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख किया जा सकता है :- ''अन्नप्राशन संस्कार के बाद उसी पूजा विधि में पुस्तक, दही, मसिपत्र, लेखनी तथा बच्चे के मन को लुभानेवाली अन्य बहुत सप्तरंगी वस्तुओं तथा खेलने के योग्य लाल-पीली पदार्थावलियों के बीच शिशु प्रसाद को अपने मन की चीज़ चुन लेने के लिए छोड़ दिया गया । लोगों के आश्चर्य का ठिकाना ना रहा जब सब कुछ छोड़ प्रसाद जी ने केवल लेखनी उठा ली और उसी से खेलना वरण किया ।''

'प्रसाद' जी ने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा मोहिनीलाल गुप्त जी की पाठशाला में प्राप्त की । उस शाला को वे ''आरंभिक सरस्वती पीठ'' कहा करते थे । इसके बाद स्थानीय क्वींस कालेज में सातवीं कक्षा तक पढ़ा । परंतु पिताजी की असामयिक मृत्यु से कालेज की पढ़ाई छोड़नी पड़ी । तब उनके बड़े भाई शंभुरत्न ने घर में ही प्रसाद जी की पढ़ाई का प्रबन्ध किया । विभिन्न अध्यापकों की सहायता से प्रसाद जी ने संस्कृत, उर्दू, अंग्रेजी, हिन्दी और फारसी का ज्ञान प्राप्त किया । उन्होंने वेद, उपनिषद, पुराण और भारतीय-दर्शन का भी अध्ययन किया । इस गहन अध्ययन के कारण उनमें दार्शनिकता आ गई ।

प्रसाद जी की माता का नाम था - श्रीमती मुन्नीदेवी । प्रसाद

जी ने अपनी माता के साथ चित्रकूट, नैमिशारण्य, मथुरा, ओंकारेश्वर, धारक्षेत्र, पुष्कर, उज्जैन जयपुर, ब्रज, अयोध्या आदि तीर्थस्थानें की यात्रा की । चित्रकूठ की पर्वतीय शोभा तथा अन्य क्षेत्रों की मनोरम छवि से वे रीन्घ उठे थे । बचपन की इस यात्रा का उनके भावी जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा । जब प्रसाद की अवस्था पन्द्रह वर्ष की थी तब उनकी माता भी चल बसी ।

प्रसाद जी के चाचा और भाई शम्भुस्त्न में मुकदमेबाजी शुरू हुई । यह मुकदमा लगभग तीन-चार वर्षों तक चलता रहा । अंत में शम्भुरत्न की विजय तो हुई लेकिन काफी धन नष्ट होने के कारण ऋण सिर पर चढ़ गया । जब प्रसाद जी की अवस्था सत्रह वर्ष की थी तब उनके बड़े भाई का भी स्वर्गवास हो गया । भाई के वियोग से प्रसाद जी के मन में एक आघात सा लग गया । सारे परिवार और बड़े व्यवसाय का बोझ प्रसाद पर आ पड़ा । उन्होंने परिस्थिति का साहसपूर्ण सामना किया और इसमें वे सफल भी हुए ।

प्रसाद जी के तीन विवाह हुए । बीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने अपना पहला विवाह किया । उनकी पहली पत्नी दस वर्ष तक जीवित रही । उसकी मृत्यु के बाद प्रसाद जी अपना अधिक समय पठन पाठन में बिताने लगे । पर परिस्थितियों ने उन्हें विवाह के लिए विवश कर दिया । दुर्भाग्यवश दूसरी पत्नी भी एक वर्ष के बाद चल बसी । तब प्रसाद जी तृतीय विवाह के पक्ष में नहीं थे, लेकिन भाभी के अनुरोध को वे टाल ना सके । इसलिए उन्हें तृतीय विवाह करना पड़ा । इसी तीसरी पत्नी से रत्नशंकर उत्पन्न हुए, जिनका नाम प्रसाद जी ने अपने बढ़े भाई की स्मृति में शम्भुरत्न का ही परिवर्तन करके रखा था ।

संवत् 1993, के शीतकाल में प्रसाद जी प्रदर्शनी देखने लखनऊ गये । वहाँ से लौटने के कुछ ही दिनों बाद वे ज्वर से पीड़ित हुए । उनके कफ़े की जाँच कराई गई तो पता लगा कि उनको राज्यक्षमा हो गयी है । दिनों-दिन उनकी तबीयत गिरती

गई । अंत में कार्तिक शुक्ल एकादशी संवत् 1994 को हिन्दी साहित्य के सेवाव्रती और अमरकवि प्रसाद जी नश्वर शरीर के बन्धन से मुक्त होकर अपरों के लोक में पहुँच गये । मेनेंडर (Menander) ने ठीक ही लिखा है - 'He whom God loves, dies young' यही प्रसाद के विषय में घटित हुआ । प्रसाद जी के महाप्रयाण पर राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने यों लिखा है :-

'जयशंकर' कहते कहते ही अब भी काशी आवेंगे ।
किन्तु 'प्रसाद' नाटक विश्वनाथ का मूर्तिमान हम पावेंगे ।।
तात भस्म भी तेरे तनु की, हिन्दी की विभूति होगी ।
पर हम तो हँसते आते थे, रोते रोते जावेंगे ।।

उपर्युक्त विवेचन से पता चलता है कि प्रसाद जी झंझा झकोर गर्जन भी नीरदमाला की विजली में भी अपने हृदय का प्रभा-दीपक जलाए कंटकाकीर्ण मार्ग पर बढ़ते गये । इसी बीच उन्होंने खाइयाँ भी पार कीं । पर्वत भी लाँघे, नदियाँ भी तैर दीं और अपने व्यक्तित्व का निर्माण भी किया । जहाँ प्रसाद जी में नीरव हृदय का गौरव है वहाँ अशांतित हृदय की झंकार भी है । संक्षेप में कहा जा सकता है 'प्रसाद' प्रसाद थे, इससे इतर नहीं ।

13.3. प्रसाद का व्यक्तित्व

व्यक्तित्व व्यक्तिगत विशेषताओं की समष्टि का बोधक होता है । व्यक्तित्व का निर्माण व्यक्ति के संस्कार, समाज, वातावरण, शिक्षा और संस्कृति के माध्यम से होता है । किन्तु उस निर्माण में व्यक्ति का जितना हाथ होता है, उतना अन्य का नहीं । व्यक्तित्व मानव का ही हो सकता है । लेकिन ऐसे मानव विरले ही होते हैं । ऐसे विरले मानवों में से **प्रसाद** जी भी एक हैं ।

प्रसाद जी का व्यक्तित्व सरल जीवन और उदात्त विचारों से ओतप्रोत था । वे सादगी पसंद करते थे । उनके रहन सहन, और रंग-ढंग में सादगी ही सादगी प्रकट होती थी । यह कहें तो कोई

अत्युक्ति नहीं होगी कि वे सादगी के अवतार और सरल जीवन के उपासक थे ।

प्रसाद जी का स्वभाव अंतर बाह्य एक-सा था । मर्यादापूर्ण एवं अनुशासन द्वारा सुशोभित संयमित-जीवन उन्हें सदा भाता था । वे नम्र और निरभिमानी थे । विद्या, वैभव, रूप, यश आदि सब कुछ पाकर भी उन्हें तनिक भी गर्व ना था । कोई निंदा करे तो चुप, प्रशंसा करे तो भी चुप रहना ही प्रसाद जी को प्रिय था ।

प्रसाद जी एक कर्तव्यनिष्ठ कर्मयोगी थे । अपना कर्तव्य निभाने में वे भय तथा पक्षपात से परे रहते थे । उनमें अद्‌भुत क्रियाशीलता थी । चाहे वैयक्तिक रूप से ही सही कितना भी कष्ट क्यों ना उठाना पड़े, फिर भी अपने कर्तव्य पथ से विचलित नहीं होते थे । जीवन में निश्चत आदर्शों को अपनाने के कारण वे आदर्श एवं कर्तव्य का समुचित सम्बन्ध स्थापित करने में सफल हुए थे ।

प्रसाद जी किसी भी गुटबन्दी में पड़ना अच्छा नहीं समझते थे । वे अपने कटु से कटु आलोचक के बारे में भी कभी कोई अपशबद नहीं कहते थे । यदि किसी प्रकार अपनी हानि से दूसरे का भला होता, तो वे तुरन्त हानि उठाने को भी तैयार हो जाते थे ।

सभा सोसायिटियों अथवा भाषण-व्याख्यानों से प्रसाद जी को बहुत कम रूचि थी । वे कभी किसी कवि सम्मेलन अथवा सभा का सभापति होना भी स्वीकार नहीं करते थे । वे इंटरव्यू से सदैव दूर रहते थे, क्योंकि बीसवीं शताब्दी के पत्रकारों की तिल का ताड़ बनानेवाली मनोवृत्ति से उनका अच्छा परिचय था । कवि सम्मेलनों में कविता सुनाना उन्हें पसंद था । बहुत आग्रह करने पर बड़ी कठिनाई के साथ अपनी लिखी पुस्तक से ही बैठे बैठे कुछ पढ़ दिया करते थे । इस प्रकार संकोचशील होकर भी वे बड़े मिलनसार सज्जन थे ।

प्रसाद जी बडे अध्ययनशील तथा चिंतनशील थे । उनका अध्ययन व्यापक और गहरा था । उनकी दृष्टि बड़ी पैनी थी । वे सदैव वास्तविक तत्वों की खोज में लगे रहते थे । इसके संबंध में रायकृष्णदास लिखते हैं - "एक एक बीज मंत्र में कैसे कैसे दार्शनिकन्तस्व निहित है, यह प्रसाद भली प्रकार से जानते थे तथा अपनी बुद्धि के अनुसार कभी कभी शब्दों का अर्थ भी नए ढ़ंग से किया करते थे । वे वेद पुराणों के श्लोकों की व्याख्याएँ भी अपनी बुद्धि के अनुसार किया करते थे, जिन्हें देखकर अच्छे से अच्छे विद्वान भी चमत्कृत हो जाते थे। उन्हें गीता के श्लोकों की सांप्रदयिक व्याख्याएँ स्वीकृत ना थीं । अतः वे मित्रों के सम्मुख स्पष्ट, संगत एवं ग्राह्य व्याख्याएँ करते थे । उनकी बुद्धि कुशाग्र थी । अतः वे तुरंत नई नई बातों को सीख लेते थे और नए ढंग से उन्हें प्रस्तुत भी करते थे ।

प्रसाद जी कलाप्रेमी थे । काव्य कला के तो वे उपासक थे । साथ ही संगीत-कला के रसास्वादन के लिए यदा-कदा संगीतगोष्ठियों में जाया करते थे। मूर्तिकला को वे बड़े सतृष्ण नेत्रों से देखा करते थे । उनकी प्राकृतिक सौंदर्य भी अधिक प्रिय था । प्रकृति की रमणीय छटा देखने के लिए वे कभी घूमने जाते थे, कभी प्रवास जाते थे ।

प्रसाद जी के व्यक्तित्व के संबंध में निम्न लिखित विद्वानों के कथन अवलोकनीय है -

"बाहर उनका व्यक्तित्व देखकर कोई उनकी मुस्कान से मुग्ध होता, कोई उनकी व्यवहारपटुता और मैत्री से मोहित होता, किन्तु उनके इस दिव्य और मोहक बाह्य के भीतर जाकर अपनी ही कृति में आनंद मनानेवाले, कीर्ति की लिप्सा ना रखनेवाले, भली बुरी समीक्षाओं से समान रूप से तटस्थ रहनेवाले, निस्पृह और दिव्यकर प्रसाद जी को बहुत कम लोगों ने देखा ।"

- आचार्य नंददुलारे वाजपेयी

''स्मितपूर्वाभिभाषी प्रसाद का व्यक्तित्व विशिष्ट मानवोचित गुणों के कारण बड़ा हृदयग्राही था । उनकी सरल वाणी की मधुरिमा, उनके मुक्त हास्य की विमलता उनके स्वस्थ शरीर की गठन, उनके सुखद शील की आर्यता, उनके स्वार्जित पांडित्य की प्रौढ़ता, उनके सहिष्णु स्वभाव की शालीनता, उनकी सद्यःफला स्मृतिशक्ति की प्रखरता, उनके सामाजिक जीवन की उच्चता, उनके निष्कपट व्यवहार की शालीनता, उनकी निस्पृह साहित्य सेवा की महत्ता-सब ने मिलकर उनके व्यक्तित्व को विशद बनाया था । वैसा मोहक और उत्प्रेरक व्यक्तित्व् आज हिन्दी जगत में सावधानता से टटोलना पड़ेगा ।''

- शिवपूजन सहाय

''शान्त गंभीर सागर जो अपनी आकुल तरंगों को दबाकर धूप में मुस्करा उठा है या फिर गहन आकाश जो झंझा और विद्युत को अपने हृदय में समाकर चाँदनी की हँसी हँस रहा है-ऐसा ही कुछ प्रसाद का व्यक्तित्व था ।''

- डॉ नगेन्द्र

किया भूक को मुखर, लिया कुछ दिया अधिकार ।
पिया गरल पर किया जाति साहित्य को अमर ।।

- निराला

इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रसाद जी एक आदर्श व्यक्तित्व लेकर अवतीर्ण हुए थे । उनका व्यक्तित्व असाधारण था । वे मननशील अध्ययनशील, धार्मिक और प्रकृति-प्रेमी थे और अपने समय की दिव्य विभूति थे । वे जीवन में सौन्दर्य और प्रेम के उपासक थे । संवेदनशीलता उन के जीवन का आभूषण थी । मानवता के उपासक होने के कारण उसके उत्थान के लिए वे सतत प्रयत्न करते रहे । इस प्रकार उनका व्यक्तित्व अत्यंत भव्य और आकर्षक था ।

13.4. प्रसाद' का जीवन-दर्शन

साहित्य मनुष्य के आंतरिक-जीवन और उसकी विचारधारा का क्षण-क्षण का आलेखन है । वह संपूर्ण मनुष्य की कृति है, खंड मनुष्य की नहीं । अतः साहित्यकार की रचना की पृष्ठभूमि से पूर्णतया परिचित होने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसकी विचारधारा की अनेकानेक तरंग भंगिमाओं से भली भाँति परिचित हों ; उसके भाव-जगत की तरंगों के साथ उसके विचारों के आलोडन-विलोडन और घात-प्रतिघात से परिचित हों ।

प्रसाद जी ने वैदिक साहित्य से लेकर स्मृति, पुराण उपनिषद, इतिहास तथा बौद्ध और शैव दर्शन का गहरा अध्ययन किया तथा उनसे प्रभावित होकर अपने विचारों को स्वरूप प्रदान किया था । वे स्वतन्त्र विचारों के व्यक्ति थे तथा जागरूक साहित्यकार थे । उनकी अमरवाणी में भाव और विचारों का समन्वय है । विचारहीन-भावना अन्धी है और भावनाहीन विचार-पंक रह जाता है । प्रसाद जी की भावना साराहीन झागों में नहीं उढ़ जाती वरन् उससे विचार की सरस धारा भी बहती है ।

''भले और बुरे, पाप और पुण्य, देवता और दानव, दुख-सुख-ये प्रसाद जी के विचार से एक सिक्के के दो पहलू भी हैं । दोनों इस जगत के लिए समान रूप से आवश्यक हैं । बिना एक के दूसरे की सत्ता ही नहीं है ।'' यह प्रसाद जी का तात्विक विचार था और इस तात्विक विचार को हम वस्तुस्थिमूलक दर्शन में प्रथम प्रवेश कह सकते हैं । इसमें नवीन मनोवैज्ञानिक प्रसार और बौद्धिक उपक्रम की स्पष्ट झलक है ।

प्रसाद जी का विचार है - ''सत्कर्म हृदय को विमल कनाता है और हृदय में वृत्तियाँ-सथान पाने लगती हैं । इसलिए सत्कर्म कर्मयोग को आदर्श बनाता है और आत्मा की उन्नति का मार्ग स्वच्छ और प्रशस्त करता है । सत्कर्मों का ही क्रियात्मक रूप

सद्विचारों के बिना मनुष्यत्व की स्थिति नहीं और धर्म संस्कारों के बिना सद्विचार टिकाऊ नहीं होते ।

सद्विचारों में सबसे महत्वपूर्ण बात विश्वास की है । मनुष्य अपने विश्वासों में ही अमर हो सकता है । जब तक उसे अपने में दृढ़ विश्वास है, तब तक उसका जीवन और कृति सार्थक है । संसार बड़ा प्रपंचमय यंत्र है । वह अपनी मनोहरता पर आप ही मुग्ध रहता है । उसमें विद्रोह, संघर्ष, हत्या, अभियोग, षड्यंत्र और प्रताडन का राज है । उसमें पाप को जितना प्रश्रय मिलता है, उतना पुण्य को नहीं । कारण कि पाप पुण्य से कहीं अधिक आकर्षक है ।''

प्रसाद जी के सामाजिक-विचार बड़े उदार हैं । वर्ण व्यवस्था को वे मानते थे किन्तु वे उसको दूसरों पर अत्याचार करने का साधन नहीं बनाना चाहते थे । उनकी दृष्टि में - ''वर्गभेद सामाजिक-जीवन का क्रियात्मक विभाग है । यह जनता के कल्याण के लिए बना, परन्तु अब द्वेष की सृष्टि में दम्भ का मिथ्या गर्व उत्पन्न करने में, यह अधिक सहायक हुआ है । जिस कल्याण बुद्धि से इसका आरंभ हुआ वह नाटक रहा, गुणकर्मानुसार वर्णों की स्थिति नष्ट होकर आभिजात्य के अभिमान में परिणत हो गई ।'' प्रसाद ने जीवन के किसी भी पक्ष की उपेक्षा नहीं की है । वे जीव के चिंतक है । समाज के दुर्बलों, दंडितों, पीड़ितों और निर्वासितों के प्रति बड़ी उदार भावना लेकर आगे बढ़े हैं । वे सामाजिक दबाव शोषण और असमानता के पूर्ण विरोधी थे । ''संसार में जितने हलचल हैं, आँदोलन हैं, वे सब मानवता की पुकार है'' - यह कहकर प्रसाद ने अपने समाज सुधार के दृष्टिकोण को व्यापकता दी है ।

प्रसाद जी के राजनीतिक विचार भी बड़े उदार हैं । वे गाँधीजी की भाँति राजनीति को धर्मनीति के अधीन रखना चाहते थे । वे 'जियो और जीने दो' के माननेवाले मालूम होते हैं ।

राजनीति के संबंध में प्रसाद जी की चेतावनी सुनिए । ''राजनीति ही मनुष्य के लिए सब कुछ नहीं है । राजनीति के पीछे नीति से भी हाथ ना धो बैठो, जिसका विश्वमानव के साथ भी व्यापक संबंध है । राजनीति की साधारण छलनाओं से सफलता प्राप्त करके क्षण भर के लिए तुम अपने को चतुर समझ लेने की भूल कर सकते हो । - राजनीति और नीति का सबसे सुन्दर एकीकरण गाँधीजी के राजनीतिक जीवन में हुआ था । नीतिबाहिर-राजनीति ही राष्ट्रीय और अंताराष्ट्रीय छल-छद्भो का मूल है ।'' राजनीति का मूलमंत्र है अधिकार । पर प्रसाद जी की धारणा यह है कि राजतंत्र को अधिकार भेद पर आश्रित ना कर जनहित पर आश्रित करते हैं । प्रसाद के मत में अधिकार एक मादक नशा है विद्यानिवास मिश्र अधिकार पाते ही मनुष्य मनुष्य नहीं रहता । उनका विचार था कि वसुन्धरा के समान राजाओं का हृदय भी उदार और सहनशील होना चाहिए । प्रजा का सुख राजा का सुख है, प्रजा का दुख/राजा का दुख है । राजासत्ता या राजाकी महत्ता प्रजाहित के मापदंड पर नापी जानी चाहिए ।

प्रसाद जी के साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि उनके धर्म और दर्शन संबंधी विचार बड़े व्यापक और गंभीर है । उनका विचार है कि वास्तव में धर्म के सच्चे रूप को हम पहचानते नहीं, और कदाचित् इसलिए हम धार्मिक बनते हुए भी सचमुच धर्म के प्रति उदासीन हैं । प्रसाद जिस धर्म की बात उठाते हैं, वह मानवीय-स्वभाव पर आश्रित है । वे मानव धर्म के समर्थक हैं । एक स्थान पर वे लिखते हैं । ''धर्म मानवीय स्वभाव पर शासन करता है, ना कर सके तो मनुष्य और पशु में भेद क्या रह जाय ?'' - इससे स्पष्ट होता है कि धर्म ही मनुष्य की पाशविक-वृत्तियों का नियमन करके ऊपर उठाता है । जिस भावना और लोक-व्यवहार के द्वारा मनुष्य अपनी साधारण पशुवृत्तियों से ऊपर उठ जाय वही धर्म है ।

दर्शन के क्षेत्र में भी प्रसाद जी की देन कम नहीं है ।

उनकी प्रारंभिक रचनाओं में ही अनेक गंभीर विचारों की दीप्ति दिखाई पड़ती है । और बाद में तो वे जीवन, मृत्यु, सुख-दुख, कर्माकर्म जैसे गंभीर विषयोंपर बराबर विचार करते सामने आते हैं । आधुनिक लेखकों में जीवन संबंधी इतनी व्यापक दृष्टि कदाचित ही और कहीं मिलेगी । उन्होंने जीवन के किसी भी पक्ष की उपेक्षा नहीं की है और जो कुछ उन्होंने सोचा समझा है वह उनकी व्यक्तिगत छाप से मुद्रित होकर एकदम नया बनकर हमारे सामने आया है ।

प्रसाद जी ने अपने दार्शनिक विचारधारा की किसी सांप्रदायिक-मतवाद पर आधारित नहीं किया है । उनके दार्शनिक चिंतन में औपनिषदिक-अद्वैतवाद, शैवाद्वैत-भक्ति बौद्धदर्शन और नियतिवाद का विलक्षण सम्मिश्रण है । उनकी प्रारंभिक रचनाओं में कर्मवाद और भाग्यवाद का द्वन्द्व स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है । भाग्यवाद के बीच में भी उन्हें आलोक की एक किरण दिखलाई पड़ती है, वह है करूणा । प्रसाद करूणी को मानवीय जीवन के विकास का एक महत्वपूर्ण तत्व मानते हैं । वे एक स्थान पर लिखते हैं कि पाशवी वृत्ति के ऊपर करूणा की विजय ही मानव-संस्कृति के विकास का रागमय इतिहास है । विश्वभर में यदि कुछ कर सकती है तो वह कारण है जो प्राणिमात्र में समदृष्टि रखती है । जान पड़ता है कि अपने जीवन के अंतिम दिनों में प्रसाद ने शैवागमों का गंभीर अध्यायन किया था । अतः वे आनंदवाद के प्रसारक बन गये । प्रसाद के जीवनदर्शन का अंतिम रूप आनन्दवाद है । उनका विचार है ''उपनिषदों और बुद्धि से पूर्व यही आनंदवाद आर्यों का मूल जीवन-दर्शन था । यह आनन्दवाद किसी शास्त्र-ज्ञान पर आश्रित नहीं । यह किसी समाज या देश तक सीमित नहीं । यह एक सार्वभौम-भाव है । आनंद का उपासक क्षुद्र स्वार्थों के वशीभूत होकर घृणा और द्वेष से अपने मन को कलुषित नहीं करेगा । वह जल की भाँति निर्मल और पुष्प गंध की भाँति निर्लिप्त होगा ।

कुछ आलोचक प्रसाद जी को पलायनवादी कहते हैं । वास्तव में देखा जाए प्रसाद जी ने पलायनवाद का घोर विरोध किया है और संघर्षमय-जीवन व्यतीत करने और विघ्नों से टक्कर लेने का विचार व्यक्त किया है । उनकी रचनाओं में एक अखडित, अविभाजित, कर्मप्रधान और समरसतामूलक आनंदवाद की चर्चा की गई है । उन्होंने अपने जीवन की किसी भी दिशा को पलायनवादी-भावना से प्लावित होने नहीं दिया हे । मानव की समस्याओं के समाधान के लिए बुद्धि की करूणा और गीताकार की सर्वभूत हित की भावना को टाला है । अंत में नाना प्रकार के संकटों और भौतिक बाधाओं एवं दुःखों से पीड़ित विश्व को प्रसाद ने आनंद-प्राप्ति की बात की है ।

13.5. नाटककार प्रसाद

भारतेन्दु-युग हिन्दी नाटकों का शौशवकाल था, किन्तु प्रसाद-युग में नाटक-साहित्य चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुआ । यह कहे तो कोई अत्युक्ति नहीं है कि प्रसाद-युग हिन्दी नाटकों का स्वर्णयुग था । हिन्दी-नाटक-क्षेत्र में प्रसाद जी अद्वितीय हैं । उनका योगदान हिन्दी-नाटक-भंड़ार को अमर बनाने में सहायक सिद्ध हुआ है । प्रसाद जी के बाद आज तक कोई ऐसा सशक्त नाटककार दिखाई नहीं देता, जिसके नाटकों में प्रसाद जैसी नाट्य-कला का अनूठा, अपूर्व और मध्य-रूप दृष्टिगत हो । उन्होंने अपने नाटकों द्वारा हिन्दी नाटकों को एक नई दिशा और नई गति दी और ऐतिहासिक-खोजों के आधार पर नई शैली को अपनाते हुए जिस उच्च कोटि के नाट्य कला-कौशल का तथा ऐतिहासिक-ज्ञान का परिचय दिया है वह सर्वथा सराहनीय है । प्रसाद जी की नाट्य-कला के बारे में दुर्गाशंकर मिश्र का मत उल्लेखनीय है :-
''प्रसाद जी ने नाट्य क्षेत्र में प्रवेश कर नाटक को नए चरित्र, नई घटनाएँ, नया ऐतिहासिक देश काल, नया आलाप-संलाप, संक्षेप में नया समारंभ दिया जिससे हिन्दी नाटकों में नया युग प्रारंभ होने लगा ।'' अतः प्रसाद जी युगप्रवर्तक-नाटककार हैं और उन्होंने

प्राचीनता का ध्यान रखते हुए भी अंग्रेजी व बंगाली साहित्य से प्रभावित हो नूतन मार्ग ग्रहण किया । उन्हें हिन्दी साहित्य का सर्वप्रथम मौलिक नाटककार भी कहा जाता है ।

13.6. प्रसाद जी की नाट्यशाला की कतिपय निजी विशेषताएँ

'प्रसाद' जी की नाट्यकला की कतिपय निजी विशेषताएँ हैं, जो उन्हें अन्य नाटककारों से पृथक करके गौरव प्रदान करती हैं । कुछ प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं -

13.6.1. प्रसाद के नाटकों में ऐतिहासिकता

'प्रसाद' जी के नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता उनकी ऐतिहासिकता है । उन्होंने राष्ट्र में आत्मगौरव के भाव जागृत करने के लिए भारतीय इतिहास के गरिमामय अध्यायों को अपने नाटकों का विषय बनाया है । प्रसाद ने इतिहास की महत्ता पर अपने मंतव्य को 'विशाख' नाटक की भूमिका में यों लिखा है : ''इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिए अत्यंत लाभदायक होता है । ...मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है, जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है ।''

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि ऐतिहासिक नाटक इतिहास मात्र नहीं है । उनकी रूपरेखा तो ऐतिहासिक होती है, किन्तु उसमें प्राण प्रतिष्ठा करनेवाली शक्ति नाटककार की सर्जक-कल्पना है । ऐतिहासिक घटनाओं का एकत्र-रूप ऐतिहासिक नाटक नहीं कहलाता । कल्पना का समावेश होने के कारण ऐतिहासिक नाटक में रसोद्रेक करने की क्षमता आती है । कल्पना का अवलम्ब होते हुए भी नाटककार प्रसाद जी ने कहीं भी वास्तविकता की हत्या नहीं की है और सर्वत्र ऐतिहासिक सत्यों की

रक्षा की है । कल्पना के समाहार द्वारा कहीं भी इतिहास की अवहेलना नहीं हुई है । वास्तविकता और कल्पना का मणिकांचन संयोग प्रसाद के नाटकों की विशेषता हे ।

13.6.2. प्रसाद के नाटकों में भारतीय संस्कृति के भव्य रूप का चित्रण

प्रसाद जी के नाटकों में भारतीय संस्कृति का सजीव चित्रण मिलता है । उनके सभी नाटकों का आधार सांस्कृतिक है । आर्य-संस्कृति में उन्हें गहन-आस्था थी । वे भारतीय संस्कृति पर मुग्ध थे । अपनी भावुकता के द्वारा उन्होंने भारतीय संस्कृति में प्राण-संचार किया । साथ ही उन्होंने युग-जीवन और युगधर्म का भी प्रतिपादन किया प्रत्येक नाटक में प्रसाद जी ने मुख्य पात्र या नायक को उस युग की सांस्कृतिक-समस्याओं का प्रतीक माना है और उसके माध्यम से नवीन सांस्कृतिक-निर्माण की सूचना दी है । उनके नाटकों में भारत के इतिहास का वही परिच्छेद (चन्द्रगुप्त मौर्य से लेकर श्रीहर्ष तक) है जिसमें उसकी संस्कृति अपने पूर्ण वैभव पर थी । अपने नाटकों में सांस्कृतिक-स्थितियों का यथार्थ रूप प्रस्तुत करते हुए भी उस अंतर्धारा का लोप नहीं होने दिया है । जिसे हम भारतीय-संस्कृति की विकासोन्मुख-धारा कह सकते हैं । उनके नाटकों में भारतीयों के कलाप्रेम का भी सुन्दर चित्रण मिलता है । उस समय के राज दरबारों में नर्तकियों, गायिकाओं तथा अन्य कलाकारों की सम्मानपूर्ण स्थिति का दिग्दर्शन करवाया गया है । इस प्रकार प्रसाद जी ने त्याग से अनुप्राणित तपस्या से पोषित, और तपोवन से संबंधित भारतीय-संस्कृति के उज्जवल रूप को विश्व के सामने प्रस्तुत किया है । संस्कृति के नाम पर उन्होंने परंपरा का गुणगान अंधश्रद्धा से नहीं किया है । सच तो यह है कि प्रसाद जी के नाटक भारतीय संस्कृति के अमरकोष हैं । प्रसाद के नाटकों का शरीर जहाँ पूर्ण साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक है, वहाँ उसका मन अनिवार्यतः ऐतिहासिक एवं उसकी विशुद्ध सांस्कृतिक है ।

13.6.3. प्रसाद के नाटकों में कवित्व तथा गीत-योजना

प्रसाद जी का भावुक कवि हृदय उनके नाटकों को श्री और सुधा प्रधान करता है । उनके नाटकों का सांचा काव्यात्मक है । अतः उनके नाटकों में मार्मिकता काव्यमयता एवं रोचकता आ गई है । नाटककार ने जहाँ तहाँ पात्रों के उद्‌गारों में भावोच्छवास की वृष्टि सी करता है तथा इन प्रसंगों में रस-धाराएँ निर्झरित सी जान पड़ती है । प्रसाद के नाटकों की काव्यात्मकता के संबंध में नगेन्द्र ने कहा है - '' प्रसाद के नाटक मधु से वेष्टित है । प्रसाद मूल रूप में कवि हैं । अतः उनके नाटकों में काव्य की गहरी एवं पृथुल अंतर्धारा बह रही है । वस्तु-चयन, पात्रों के व्यक्तित्व, वातावरण कथोपकथन और सारभूत-प्रभाव-सभी में कविता का रंगीन स्पंदन है । काव्यत्वप्रधान भाषा उनके लिए साधारण वस्तु बन गयी है ।

प्रसाद जी की काव्यात्मकता का दूसरा रूप उनके नाटकों की गीतयोजना है । उनके नाटकों में गीतों की संख्या क्रमशः बढ़ती ही गई है । प्रसाद जी के गीतों में तन्मयता, काल्पनिक सुधामाधुरी है और लय के उतार चढ़ाव है । उनके गीतों में एक अलौकिक अह्लाद मिलता है जो सुख को सुखातिरेक में और दुःख को आनंद में बदल देता है । प्रसाद जी एक गीतकार हैं - उनमें 'शेल्ली' का व्योम विहार है, तो 'कीट्स का सा रुग्ण विद्रोह है । यदि उनमें ब्रिजेस' की-सी सौन्दर्यप्रियता है तो 'खैयाम' का सा नियति का असंतोष । प्रसाद के नाटकीय-गीतों का सतीश बहादुर वर्मा ने छः भागों में विभाजित किया है । (1) रहस्यवादी गीत (2) प्रेम और श्रृंगार के गीत (3) भक्तिपरक गीत (4) प्रकृति सौन्दर्य सम्बन्धी गीत (4) राष्ट्रीय गीत और (6) दार्शनिक गीत । प्रसाद जी के गीतों की महत्ता के संबंध में वर्मा जी का कथन उल्लेखनीय है - ''प्रसाद जी के सरस गीतों में अद्‌भुत मदाकता है,उल्लास और वैभव का सजीव स्वप्न है । उनके गीतों का सृजन उनकी वेदना से ही हुआ है । उन गीतों में अतृप्त जीवन, सौन्दर्य, प्रेम

और यौवन की मस्ती झलकती है । उनके गीतों में कल्पना का सुख है और है मधुर-लोक का आनंद भी । उनके गीतों में संगीत है, रस है, ध्वनि है, अलंकार है, शब्द चुने हुए हैं और उनसे मिठास एवं रस टपक पड़ता है ।'' प्रसाद जी ने इन गीतों के माध्यम से अपनी विचारधारा को प्रस्तुत किया है । और चरित्र-चित्रण का कार्य भी किया है । साथ ही ये गीत मधुमय वातावरण निमार्ण में सहायक सिद्ध हुए हैं ।

फिर भी प्रसाद के नाटकों में प्रयुक्त इन गीतों पर आक्षेप लगाते हुए पं.रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है - ''बीच बीच में जो गान रखे गये हैं, वे ना तो प्रकरण के अनुकूल हैं, ना प्राचीन काल की भाव पद्धति के । वे तो वर्तमान काव्य की शाखा के प्रगीत मुक्तक मात्र हैं ।'' - वास्तव में देखा जाय तो उनका यह दोष एक दो नाटकों के अतिरिक्त कहीं नहीं पाया जाता । प्रसाद के गीत संख्या में अवश्य अधिक हैं, पर पूर्णतया साहित्यिक हैं । फिर भी यदि उनमें काटछाँट कर दी जाए तो वे रंगमंच पर रोडीं ना बने रहेंगे । उनके अंतिम नाटकों में यह दोष है ही नहीं । इस दोष का निराकरण करते हुए डा.ओझा ने लिखा हे ' ''प्रसाद की नाट्य कला का ज्यों-ज्यों परिक्षण होगा, त्यों त्यों उनके गीतों का अर्थ स्पष्ट होता जाएगा और ज्यों-ज्यों उनके गीतों का रहस्य खुलता जाएगा त्यों-त्यों यह आरोपित दोष का स्वर मंद पड़ता जाएगा ।''

13.7. प्रसाद जी का देशप्रेम तथा उनकी राष्ट्रीय भावना

भारत के गौरवमय अतीत के प्रति प्रसाद को अटूट प्रेम था । उनके सभी नाटक देशप्रेम के आंतरिक स्रोत को लेकर चलते हैं । कुछ नाटकों में तो देशप्रेम की धारा अबाध-गति से बड़ रही है । श्री ब्रजरत्नदास के शब्दों में - ''प्रसाद जी का हृदय देशप्रेम से भी हुआ था, पर वह कर्मशील न होकर मानवशील ही अधिक थे । इसलिए देश हितकारी कार्यों में ना हाथ बाँटा सकने पर भी अपनी साहित्यिक रचनाओं ही से देश का जो उपकार कर सकते थे, वहीं उन्होंने यथाशक्ति पूरे तौर से किया ।'' प्रसाद जी ने हमारे

अतीत के ऐसे स्वर्णिम-चित्र अंकित किए है जिसे पढ़कर हमारे मानस में भी देशप्रेम की स्रोतस्विनी निर्धारित होने लगती है । यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि प्रसाद जी का देशप्रेम विश्व प्रेम में बाधक ना होकर विश्व प्रेम का एक माध्यम बना है ।

प्रसाद के सभी नाटकों में राष्ट्रीय भावना कहीं ना कहीं अवश्य मिलेगी । उन्होंने अपने नाटकों के माध्यम से राष्ट्रीयता का पाठ पढाया और राष्ट्रीय-चेतना को जाग्रत किया । सच कहे तो उनके कई नाटकों में राष्ट्रीयता की भावना सरिता प्रवाह की भाँति तरंगित हो उठी है । उन्होंने बौद्धकालीन तथा गुप्तकालीन पृष्ठभूमि पर ऐसे हिन्दू पात्रों को उभारा है, जिनके चरित्र का मूलस्वर राष्ट्रीय भावना का प्रतिपादक है । नैतिक दृढ़ता, शौर्य, स्वदेश भक्ति स्वाभिमान स्वातंत्र्यप्रेम एवं राष्ट्रीयता की उदात्त भावनाएँ सर्वत्र मुखरित हुई हैं ।

13.8. प्रसाद के नाटकों में दार्शनिकाता

प्रसाद जी दार्शनिक थे । उनके दर्शन का वैभव उनके प्रत्येक नाटक में बिखरा पड़ा है । प्रसाद जी का जीवन दर्शन सदैव उनके साथ रहा है । कभी क्षणिकवाद, कभी नियतिवाद, कभी दुःखवाद, कभी करूणवाद, कभी आनन्दवाद के विचार उनके नाटकों में व्यक्त हुए हैं । प्रसाद जी का दर्शन उनके स्वतंत्र व्यक्तित्व और मौलिक चिंतन का परिणाम है । प्रसाद ने उपनिषदों, बौद्धदर्शन और शैवदर्शन का गंभीर अध्ययन किया था । अतः उनका यह गंभीर चिंतन उनके नाटकों में स्पष्ट दीख पड़ता है । प्रसाद जी के नाटकों में **नियति** का बार बार उल्लेख हुआ है । उनके पात्र **नियति** की शक्ति को स्वीकार करते हुए भी कर्मरत हैं और **नियति** किसी पात्र की प्रगति में बाधा नहीं डालती । प्रसाद जी **नियति** को संसार का नियंत्रण करनेवाली एक कल्याणमयी शक्ति मानते हैं । यह विश्वनियंत्र की एक ऐसी नियामिक शक्ति है, जो एक ओर तो संपूर्ण विश्व के जीवन क्रम की योजना करती है

और दूसरी ओर विश्व में उत्पन्न दम्भ, अहंकार आदि का करती है । जीवात्मा को अहं के भीषण परिणाम दिखाकर शिव या परमतत्व की ओर बढ़ने की प्रेरणा प्रदान करती है । आचार्य वाजपेयी जी के शब्दों में - ''प्रसाद जी के नाटकों की एक अन्य विशेषता है उन युगों की दार्शनिक विचारधाराओं के निदेश करनेवाले दर्शन को प्रसाद जी ने सर्वत्र अपने साथ रखने का प्रयत्न किया है । उनके नाटकों में भी दर्शन है । कहीं कहीं उनकी दार्शनिकता उनकी नाटकीय कलात्मकता में विघ्न भी उपस्थित करती है । फिर भी उन्होंने उत्कृष्ट दार्शनिक भावना को नहीं छोड़ी । उनके समस्त नाटकों में दार्शनिक अंतर्धारा व्याप्त है ।

13.9. प्रसाद के नाटकों में भारतीय एवं पाश्चात्य पद्धतियों का समन्वय

प्रसादजी के नाटकों में भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्य पद्धतियों का सुन्दर समन्वय हुआ है । भारतीय नाट्य-सिद्धान्त के पंडितों ने केवल वस्तु, नायक और रस को ही प्राधान्य दिया है । प्रसाद जी ने इन्हीं तीनों अंगों का विनियोग किया है और उनके द्वारा भारतीय आत्मा का संस्कृति - का पूर्ण दर्शन कराया हे । भारतीय विद्वानों के द्वारा उल्लेखित वस्तुविन्यास के सिद्धांतों की रक्षा प्रसाद जी के प्रायः सभी प्रमुख नाटकों में दिखाई पड़ती है । साथ ही नायक के जितने भी धर्म हमारे शास्त्रकारों ने कहे हैं वे सभी प्रसाद के नाटकों में टिखाई पड़ते हैं । प्रसाद के नायक धर्म और गुण के आधार पर प्रायः धीरोदात्त हैं, साथ ही उनमें व्यक्तिवैचित्र्य भी भरा है ।

पाश्चात्य पंडितों ने संघर्ष, सक्रियता और समष्टि प्रभाव को ही नाटक का सब कुछ माना है । इस बात का निर्वाह प्रसाद ने बड़ी कशलता से किया है । साथ ही पात्रों के द्वन्द्वमूलक चरित्र-वैचित्र्य के उद्‌घाटन की जो प्रवृत्ति विदेशी नाटककारों में

दिखाई पड़ती है, उसका चित्रण भी 'प्रसाद' ने यथास्थान अपने नाटकों में किया है । जहाँ तक वस्तु में कार्यास्थाओं का प्रश्न है प्रसाद ने पाश्चात्य-शैली को प्रधानता दी है तथा **आरंभ, विकास, चरमसीमा, नियति और समाप्तिवाले** सिद्धान्त को अपनाया है ।

प्रसाद जी की नाट्यकला पर छः प्रभाव लक्षित होते हैं । **(1) संस्कृत नाट्यकला (2) भारतीय तथा उनकी समवर्ती पीढ़ी की नाट्यकला (3) पारसी नाट्य कला (4) बांगला नाट्य-कला (5) लोक नाट्य कला (6) पाश्चात्य नाट्यकला** । अपने नाटकों को सुन्दर और सुरूचिपूर्ण बनाने के लिए प्रसाद जी ने विभिन्न नाट्यकलाओं से आवश्यक तत्व ग्रहण किए हैं । उनकी रचनाओं में पारसी ढंग के नाटकों की भाँति पठ्यात्मक संवाद और गाने मिलते हैं तथा कहीं बँगलावालों की तरह लँबे-लँबे कथोपकथन और स्वगत-भाषण, भी दिखाई पढ़ते हैं । कहीं-कहीं उन्होंने स्वतंत्र दृष्टि का भी परिचय दिया है ।

पूर्वी नाटकों में आदर्शवाद को प्रधानता दी जाती है, जब कि पाश्चात्य शैली के अनुसार नाटक यथार्थवादी होना चाहिए । प्रसाद जी अपने नाटकों में यथार्थवाद दिखाते हुए अंत में भारतीय परंपरा के अनुसार आदर्शवाद दिखाते हैं । पूर्वी-नाटकों में दुखांत नाटक नहीं मिलते जब कि पश्चिमी परम्परा के अनुसार दुःखांत नाटक ही श्रेष्ठ माने जाते हैं । प्रसाद जी ने बीच का मार्ग अपनाया है । उनके नाटक सुखान्त एवं दुखांत नाटक होकर प्रसादान्त हैं । अपने समन्वयात्मक दृष्टिकोण के कारण प्रसाद जी ने कहीं भारतीय-नाट्यशास्त्र में वर्जित-युद्ध, वध आदि दृश्यों का आयोजन किया है तो कहीं पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में स्वीकृत संकलन-त्रय के नियम का पालन भी नहीं किया है । प्रसाद जी की सबसे बड़ी विशेषता भारतीय रस-विधान और पाश्चात्य के शील वैचित्र के समन्वय की है । उन्होंने भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों शैलियों के सम्मिश्रण से एक नई शैली का निर्माण किया है और यही हमें अधिकतर उनके नाटकों में पाई जाती है ।

13.10. प्रसाद के नाटकों में नारी पात्रों का महत्वपूर्ण स्थान

प्रसाद जी के नाटकों में नारी पात्रों का स्थान अत्यंत महत्व का है । उन्होंने नारियों के विवाद-रूप का चित्रण किया है । एक ओर देशप्रेम के रंग से रंगी राजपुत्रियाँ हैं तो दूसरी ओर अपने को बलिदान कर देनेवाली कुमारियाँ ; एक ओर मध्य-वर्ग की दुर्बल नारियाँ हैं, दूसरी ओर राजघराने की कुमैंत्रणा पूर्ण चतुर नारियाँ । प्रसाद द्वारा चित्रित नारियाँ पुरूषों को प्रोत्साहित करती हैं, राजनीतिक गुत्थियाँ सुलझाती हैं, प्रेम की अवतारणा करती हैं तलवारों के साथ खेलती हैं, और गृहस्थ जीवन की शोभा बढ़ाती हैं । ये गायिका भी है और जादूगरनी भी । सतीश बहादुर वर्मा ने प्रसाद के नारी पात्रों के विषय में लिखा है :- ''प्रसाद के स्त्री पात्रों में भावप्रवणता तथा उदारता अधिक देखने को मिलती हैं । उनके स्त्री पात्रों में हृदय पक्ष की प्रधानता है और त्याग, करूणा, सेवा, तथा उदारता अधिक देखने को मिलती है । उनके स्त्री-पात्रों में हृदय-पक्ष की प्रधानता है और वे त्याग, करुणा, सेवा तथा अनेकानेक कोमल भावनाओं से विभूषित हैं । भावुकता तथा आत्मसम्मान दोनों का उनमें साहचर्य है । उनके प्रेम में आत्मोत्सर्ग का भाव सदैव जागृत रहता है । उनकी प्रकृति तथा स्वभाव का इतना स्वाभाविक चित्रण है, वे सजीव हो उठी हैं । ''प्रसाद जी के नाटकों में ऐसी नारियों का चित्रण भी है जो नारी मात्र के लिए लाँछना है । उनमें ईर्ष्या, मद इत्यादि की प्रधानता है ।

प्रसाद के नारी-पात्रों के संबंध में भी नन्ददुलारे वाजपेयी जी के विचार भी उल्लेखनीय है :- ''विशेषतः नारी चित्रण में प्रसाद जी की क्षमता प्रकट हुई है । प्रसाद जी की नाटकीय नारियों का अनुशीलन करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उन्होंने नारी की आदर्श-कल्पना के अतिरिक्त उसकी आकर्षक और विकर्षक, रमणी और भयावह कल्पना भी प्रस्तुत की है । नारी-मनोविज्ञान और नारी-चरित्र के उद्‌घाटन में प्रसाद जी को पुरूष-चित्रण की अपेक्षा अधिक सफलता प्राप्त हुई है ।''

13.11. प्रसाद के नाटकों में कुछ आक्षेप और समाधान

कुछ आक्षेप

कुछ समीक्षकों ने प्रसाद जी के नाटकों पर कुछ आक्षेप किए हैं जो इस प्रकार है :-

1. उनके नाटक बहुत बड़े है ।
2. कथोपकथन बहुत लम्बे हैं ।
3. काव्यत्व की प्रचुरता है ।
4. गीतों का बाहुल्य है ।
5. दृश्य-विधान अभिनयोचित नहीं है ।
6. भाषा कठिन है ।

समाधान

उपर्युक्त सभी आक्षेपों को तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता । वास्तविकता तो यह है कि चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त के अतिरिक्त प्रसाद के अन्य नाटक छोटे ही हैं । संवादों को संक्षिप्त कर लिया जा सकता है । काव्यात्मक स्थल या तो हटाए जा सकते है या भाषा की अभिव्यंजना व्यावहारिक कर दी जा सकती है । गीतों की कडियाँ कम की जा सकती है । हृदय-विभाजन का क्रम अपनी आवश्यकता के अनुकूल कर लिया जा सकता है । यदि अभिनय सजीव हो जाय, तो भाषा की किल्ष्टता दर्शकों के लिए अधिक कठिनाई उपस्थित नहीं करती । इस प्रकार सभी आक्षेपों का परिहार कर लिया जा सकता है जैसा कि काशी की कई नाटकमंडलियों ने नाटककार के जीवन काल में ही किया था । अतः थोडे बहुत परिवर्तनों के साथ 'प्रसाद' के नाटक खेले जा सकते हैं । आवश्यकता परिष्कृत रूचि के साहित्यिक अभिनेताओं तथा आदर्श रंगमंच की है । वस्तुतः प्रसाद जी ने अपने नाटकों की रचना साधारण दर्शकों और साधारण रंगमंच की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर नहीं की है । रुचिसंपन्न-दर्शकों के समक्ष विकसित रंगमंच पर उनके नाटकों का अभिनय सफलतापूर्वक किया जा

सकता है । इसके संबंध में नाटककार की निजी विचार कह देना आवश्यक है :- ''मेरी रचनाएँ तुलसीदत्त शैदा या आगा ह्रश्र की व्यावसायिक रचनाओं के साथ नहीं नापी तौली जानी चाहिए । मैंने उन कंपनियों के लिए नाटक नहीं लिखे हैं, जो चार चलते अभिनेताओं को एकत्र कर कुछ पैसा जुटाकर, चार पर्दे मँगनी माँग लेती हैं और दुअन्नी-अठन्नी के टिकट पर इक्केवाले, खोंचेवाले और दुकानदारों को बटोरकर जगह जगह प्रहसन करती फिरती हैं । उत्तररामचरित', 'शकुन्तला' और 'मद्राराक्षस' नाटक कभी ना ऐसे अभिनेताओं के द्वारा अभिनीत हो सकते और नाटक जनसाधारण में रसोद्रेक के कारण बन सकते । उनकी काव्यप्रधान शैली कुछ विशेषता चाहती है । यदि परिष्कृत बुद्धि के अभिनेता हों, सुरूचिसंपन्न सामाजिक हों और पर्याप्त द्रव्य काम में लाया जाय तो नाटक अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं ।''

उपर्युक्त विवेचन से पता चलता है प्रसाद के नाटकों की अपनी मौलिक विशेषताएँ हैं । उनकी मौलिक चिंतन प्रवृत्ति ने हिन्दी नाटकों को नया स्वरूप, नई घटनाएँ, नए चरित्र, नया कथोपकथन और नया जीवन प्रदान कर नए मोड़ पर ला खड़ा किया । उनकी नाट्यकला में नवयुग का संदेश है । प्रसाद जी के कवि कथाकार, नाटककार, दार्शनिक, इतिहासकार, रसिक प्रेमी आदि सभी रूपों का एकत्र समन्वय उनके नाटकों में ही उपलब्ध होता है । माखनलाल चतुर्वेदी के शब्दों में - ''नया युग प्रसाद के पास आया, बढ़ा, अमर भी हुआ और एक ज्योति से सुलगनेवाली दूसरी ज्योति की तरह प्रभात के खेल की विविधता में युग के आवेगों और प्रयोगों की दीपावली का त्योहार मनाया किन्तु यह सब कुछ संस्कृति की भाषा में, उपनिषद की वाणी में । ..... कहते हैं कबीर हिन्दी के सत्य थे ; तुलसी शिव थे और सूर सुंदर थे किन्तु 'प्रसाद' सत्य और सुन्दर की आँखमिचौनी थे । .....साहित्य की सर्वेश्वरी सरस्वती कही रहे ; उसके रसों का प्राण उसका आशीर्वाद, उसका प्रसाद हमने **'प्रसाद'** में पाया ।''

प्रसाद के नाटकों के पृष्ठों में भारत की भव्यता, ज्ञानगरिमा, सांस्कृतिक गौरव और सभी आदर्श जीवित स्पन्दित है । परंपरा के साथ नवीन जीवन स्थितियों का प्रयोग कर उन्होंने नाट्य साहित्य को एक नया मार्ग सुझाया, जिसके लिए हिन्दी साहित्य उनका चिरऋणी रहेगा । प्रसाद के नाटक हिन्दी साहित्य जगत में ही नहीं, विश्व के नाट्य-साहित्य में सम्माननीय स्थान के अधिकारी हैं ।

13.12. बोध प्रश्न

1. प्रसाद के व्यक्तित्व और उनका जीवन दर्शन प्रस्तुत कीजिए ।
2. प्रसाद जी ने ''देशप्रेम और राष्ट्रप्रेम अपने नाटकों में किस प्रकार वर्णन किया है इसकी समीक्षा कीजिए ।
3. प्रसाद जी, भारतीय और पाश्चात्य का सुन्दर समन्वय कैसे किया है - उदाहरण सहित स्पष्ट लिखिए ।

NOTES

NOTES

इकाई चौदह : ध्रुवस्वामिनी - एक विवेचन

इकाई की रूपरेखा

14.0. उद्देश्य

14.1. प्रस्तावना

14.2. ध्रुवस्वामिनी एक विवेचन

14.3. ध्रुवस्वामिनी का कथानक

14.4. नाटक तत्वों के आधार पर 'ध्रुवस्वामिनी ' नाटक का विवेचन

14.5. विवेचन

14.6. चरित्र-चित्रण

14.7. कथोपकथन व संवाद

14.8. देशकाल तथा वातावरण

14.9. भाषा शैली

14.10. उद्देश्य

14.11. बोध प्रश्न

14.0. उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में जयशंकर प्रसाद लिखित ध्रुवस्वामिनी नाटक का सार बताना है । पर यह एक ऐतिहासिक नाटक होने के कारण कथावस्तु से जुडा इतिहास भी समझना आवश्यक है । इसलिए तत्कालीन इतिहास पर प्रकाश डाला गया है । प्रस्तुत नाटक के दो संस्करणों की चर्चा से नाटक में किये गये संशोधन बताये गये हैं । नाटक का ऐतिहासिक आधार स्पष्ट करने के उपरान्त नाटक की कथावस्तु, बोधप्रश्न आदि पर विचार किया है । इससे नाटक को समझने में सहायता मिलेगी ।

14.1. प्रस्तावना

प्रसाद ने अपने नाटकों की विषय-वस्तु प्राचीन भारत के गौरवमय इतिहास से चुनी है । महाभारत काल से लेकर हर्षवर्धन तक के अतीत इतिहास को वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने के मूल में उनकी उदात्त राष्ट्रीयता कार्य कर रही है, उन्होंने इतिहास का वह काल लिया जो सांस्कृतिक और भौतिक दृष्टि से भारत का समृद्धि काल माना जाता है । प्राचीन इतिहास को युग के परिप्रेक्ष्य में नवीन सामग्री के साथ प्रस्तुत कर प्रसाद ने ऐतिहासिक नाटकों को गंभीरता प्रदान की है । ऐतिहासिक नाटकों को वस्तु संबंधी गरिमा प्रदान करना, प्रसाद की देन है । 'अजातशत्रु' 'स्कन्दगुप्त' तथा चन्द्रगुप्त, जैसे ऐतिहासिक नाटकों की कथा-वस्तु देश और काल की विस्तृत भूमिका पर आधारित है ।

14.2. ध्रुवस्वामिनी - एक विवेचन

प्रस्तुत नाटक ध्रुवस्वामिनी इसका एक ज्वलंत उदाहरण है । 'ध्रुवस्वामिनी में तो संपूर्ण रूप से वर्तमान का चित्रण है । जब प्रसाद जी ने 'ध्रुवस्वामिनी' की रचना की तब नाटक की मांग हो रही थी । लोग आदर्श की ओर क्रमशः अग्रसर हो रहे थे । कई सुधार भी चल रहे थे । विधवाओं के पुनर्विवाह की प्रथा का समर्थन हो रहा था । अतः प्रसादजी ने अपने समय के विचारों से

प्रभावित होकर समय की माँग को पूरा करना उचित समझा । किन्तु वे केवल समस्यामूलक नाटक ही नहीं लिखना चाहते थे, लेकिन समस्यामूलक ऐतिहासिक नाटक का सृजन करना चाहते थे । उन्होंने मोक्ष का गहन अध्ययन किया । इसी का परिणाम हम 'ध्रुवस्वामिनी' के रूप में देख सकते हैं ।

'ध्रुवस्वामिनी' के बारे में हम कह सकते हैं कि 'ध्रुवस्वामिनी' ऐतिहासिक, राष्ट्रीय और सांस्कृतिक नाटक होते हुए भी समस्या नाटक है । मानव ने जब से विवाह नाम की संस्था का प्रवर्तन किया है तब से आज तक यह जीवन की उलझन भरी सर्वव्यापक समस्या बनी है । समय समय पर अनेक युग-द्रष्टाओं ने इसमें संशोधन किए हैं, आगे भविष्य में भी ये होते रहेंगे ।

'ध्रुवस्वामिनी' में इसी गंभीर समस्या को लिया गया है । ध्रुवस्वामिनी गुप्त-साम्राज्य की लक्ष्मी है और उसका पति है रामगुप्त वह एक भीरू, कायर, क्लीव और अयोग्य भी है । उस पति के साथ वह विवाह धर्म का कब तक पालन करे, यह उसके सामने एक दुविधा भरा प्रश्न है । ध्रुवस्वामिनी और रामगुप्त का विवाह अक्षम और राक्षस विवाह है । वह समाज और व्यक्ति के मंगल का विनाशक और कल्याण का घातक और द्योतक भी है । राजा की क्लीबता और भीरूता सीमा को लांघ जाती है । वह ध्रुवस्वामिनी से ऐसा कहता है कि **''मैं आज्ञा देता हूँ - जाओं, तुमको जाना पड़ेगा । तुम उपहार की वस्तु हो । आज मैं तुम्हें किसी दूसरे को देना चाहता हूँ । इसमें तुम्हें क्यों आपत्ति है !!''** जो मनुष्य इतना पतित हो कि अपनी पत्नी को भी शकराज को भेंट कर दे, उसको पति रहने का और कहने का अधिकार नहीं । ध्रुवस्वामिनी की रक्षा के लिए, अपने कुल की मर्यादा के लिए चंद्रगुप्त शकराज के डेरे में जाकर उसका वध करता है । इससे पूर्व, परिस्थितियों के वश ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त का प्रेम विकसित हो चुका था । नाटक में दोनों का विवाह कराया गया है

और अंत में धर्माधिकारी घोषित कर देता है :- **''मैं स्पष्ट कहता हूँ कि धर्म-शास्त्र रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष की आज्ञा देता हैं ।''**

नाटक में दूसरी समस्या है राजा की । इसका भी विचार आदिकाल से ही होता आया है । यदि राजा दुर्बल अक्षम, अत्याचारी हो तो राज्य के कल्याण के विचार से उसके स्थान पर योग्य व्यक्ति की स्थापना का भार सदैव प्रजा और प्रजा के प्रतिनिधियों पर होना ही चाहिए । रामगुप्त राजनितिक षडयंत्र के कारण सच्चे उत्तराधिकारी के स्थान पर शासक बना, परंतु अपने दायित्व का निर्वाह करने में असमर्थ होने से सर्वथा अयोग्य प्रमाणित होता है । साम्राज्य और पूर्व पुरूषों के गौरव के अनादर का कारण बनता है । निरर्थक शकों का संहार करके अत्याचार और पाप करता है । इसलिए सामंत कुमार उसे पदच्युत कर देते हैं । वर्तमान समस्या नाटककारों की तरह प्रसाद ने केवल समस्या ही नहीं खड़ी की है, वरन् उसके उत्तर की भी व्यवस्था की है । प्रसाद ने प्रथम समस्या का उत्तर दिया है - मोक्ष और दूसरी समस्या का परिवर्तन ।

प्रसाद की रचनाओं में अपनी मर्म स्पर्शित, सरलता क्रान्तिदर्शिता तथा सुलझे हुए कथानक के लिए 'ध्रुवस्वामिनी' सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है । इसके विषय में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जी का मत है - **''ध्रुवस्वामिनी का स्वरूप प्रसाद की नाटकीय परंपरा से पर्याप्त मात्रा में भिन्न है । संभवतः इसका मुख्य कारण यही रहा होगा कि लोग उनके नाटकों को अभिनय विहीन काव्य से परिपूर्ण मानते थे । उन लोगों ने संवाद और आदर्शवादिता पर भी आक्षेप किया । प्रसाद ने ध्रुवस्वामिनी की रचना करके यह प्रमाणित कर दिया कि वे नवीन प्रणाली से भी अनभिज्ञ नहीं थे ।''**

अभिनय की दृष्टि से यह एक सफल नाटक है । इसकी भाषा सरल और छोटे-छोटे कथोपकथन से युक्त है । सभी संभाषण

व्यापार युक्त हैं, केवल कवित्व अथवा दर्शन के प्रदर्शन करने के लिए नहीं । स्वगत भाषण बिलकुल नहीं है । इसमे परिहास की अवतारणा सुन्दर ढंग से की गई है । ध्रुवस्वामिनी का नाट्य विधान पूर्णरूप से पाश्चात्य है । इसमें नूतनता प्रचुर मात्रा में पायी जाती है । किंतु इसकी आत्मा का स्वरूप भारतीय ही रहा है ।

नाटकं का शीर्षक सर्वथा सार्थक तथा उपयुक्त है । ध्रुवस्वामिनी केवल इतिहास प्रसिद्ध महिला ही नहीं है बल्कि नाटक के सारे व्यापारों से उसी का संबंध है । प्रधान फल की उपभोक्ती भी वही है । इसमें दो प्रधान फल हैं - राक्षस विवाह से मोक्ष और महादेवी पद की सच्ची संप्राप्ति । इन दोनों की अधिकारिणी ध्रुवस्वामिनी बनती है । इनको पाने के लिए शुरू से अंत तक वह सतत प्रयत्नशील रहती है । अपने प्रयत्न में ध्रुवस्वामिनी पूर्वरूप से सफल हो जाती है । रामगुप्त के साथ जो विवाह हुआ था उससे छुटकारा मिल जाता है और चन्द्रगुप्त के साथ विवाहित होकर वास्तविक महादेवी बन जाती है ।

14.3. ध्रुवस्वामिनी का कथानक

ध्रुवस्वामिनी का कथानक बहुत सुगठित तथा नाटकीय तत्वों से युक्त है । संपूर्ण नाटक में तीन अंक हैं, प्रत्येक अंक में एक ही दृश्य है । प्रत्येक दृश्य में वस्तु का एक अंश सुफित है ।कथा का प्रवाह नाटकीय गति के साथ अंत तक बना रहता है ।

समुद्रगुप्त की दिग्विजय के पश्चात् उसे कन्योपादान स्वरूप गुप्तकुल-वधू ध्रुवस्वामिनी प्राप्त हुई थी । उसके उत्तराधिकारी चंद्रगुप्त ने मर्यादा और महत्व की रक्षा के लिए अपने प्राप्त अधिकार को त्याग दिया था । ध्रुवस्वामिनी को खेल में लाने के लिए चन्द्रगुप्त गया था । समुद्रगुप्त की मृत्यु के बाद रामगुप्त ने धूर्तता से ध्रुवस्वामिनी के साथ पुरोहितों से विवाह के मंत्र पढ़ा लिये । सब लोगों के विरोध करने पर भी शिखरस्वामी और पुरोहित भी इस कार्य में रामगुप्त के सहायक बन गए ।

रामगुप्त शासनभार के उत्तरदायित्व का निर्वाह करने में सर्वथा असमर्थ था तथा भोगविलास में आपादमस्तक मग्न था । यह चन्द्रगुप्त से संशकित रहता था और बन्धियों की भांति उसे नियन्त्रण में रखता है । ध्रुवस्वामिनी एक उपेक्षित और तिरस्कृत स्त्री के समान गूंगे, बहरे, हिजड़े, दास दासियों से घिरी रहकर जीवन व्यतीत कर रही है । दुःख से ध्रुवस्वामिनी खीझकर कहती है - **''इस राजकुल के अंतःपूर में मेरे लिए ना जाने कब से नीरव अपमान संचित रहा, जो मुझे आते ही मिला । विवाह के समय अग्नि को साक्षी कर पुरोहितों के आशीर्वाद को वह अभिशाप समझती है - ''उस दिन राजपुरोहित ने कुछ आहुतियों के बाद मुझे जो आशीर्वाद दिया था, क्या वह अभिशाप था ?''**

चन्द्रगुप्त कुमार की स्निग्ध, सरल और सुन्दर मूर्ति के स्मरण से उसे मानसिक शांति मिलती है । लेकिन कापुरूष धूर्त रामगुप्त चन्द्रगुप्त के प्रति ध्रुवस्वामिनी के स्नेह के अंकुर को जड़सहित उखाड़ फेंकने का स्वप्न देखा करता है पर चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी सदैव एक दूसरे के लिए आकुलता छिपाए चलते हैं । गुप्त कुल की मर्यादा की रक्षा के हेतु चन्द्रगुप्त अपने हृदय के कोमल भावों तक की उपेक्षा-सी करने लगता है ।

इन्द्रियलोलुप, दुष्ट, क्लीव, रामगुप्त ध्रुवस्वामिनी को सदैव अपने स्नेह से वंचित रखता है, वह उसकी उपेक्षा करता है और साथ ही यह भी चाहता है कि जगत् की अनुपम सुन्दरी मुझे प्यार करे । चन्द्रगुप्त के प्रति ध्रुवस्वामिनी का लगाव उसे खलता है । **''जगत् की अनुपम सुन्दरी मुझे स्नेह नहीं करती और मैं हूँ इस देश का राजाधिराज ?''**

''आह ! किन्तु ध्रुवदेवी ! उसके मन में टोस है जो स्त्री दूसरे के शासन में रहकर और प्रेम किसी अन्य पुरूष से करती हैं ; उसमें एक गंभीर और व्यापक रस उद्वेलित रहता होगा । वही तो नहीं ; जो चन्द्रगुप्त से प्रेम करेगी वह स्त्री ना जाने कब छोडकर बैठे ?''

इसीलिए वह ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करने की फिक्र में सदैव रहता है जिससे कुचक्रो का चलना संभव ना हो सके तथा चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी दोनों का संपर्क भी ना हो ! रामगुप्त की उपेक्षा से अपमानित ध्रुवदेवी दासी से बहुत कुछ पूछना चाहती हैं किन्तु अवरोध के अंदर मौन रहनेवाली दासी झरने के पास चलने का संकेत करती है । वहाँ एकांत पाकर दासी मुखर हो उठती है । आश्चर्यचकित ध्रुवस्वामिनी इस कपटाचरण का कारण पूछती हैं तो दासी चन्द्रगुप्त की चर्चा चलाकर उसे बन्दीगृह से मुक्त करवाने की बात कहती है । जब ध्रुवदेवी अपनी असहायता प्रकट करती हैं तो दासी चन्द्रगुप्त के प्रेम का संकेत देती हुई कहती है ''कुमार को इतने से ही संतोष होगा कि उन्हें कोई विश्वासपूर्वक स्मरण कर लेता है ।'' ध्रुवस्वामिनी के हृदय की पीड़ा साकार हो जाती है । रामगुप्त के प्रति उसकी घृणा उबल पड़ती है । **''आह ! कितनी कठोरता है । मनुष्य के हृदय में देवता को हटाकर राक्षस कहाँ से घुस आता है ? कुमार की स्निग्ध, सरल और सुन्दर मूर्ति को देखकर कोई प्रेम से पुलकित हो सकता है । किन्तु उन्हीं का भाई ? आश्चर्य ।''**

शक आक्रमण के समय रामगुप्त का शिविर चारों ओर से अवरूद्ध हो जाता है । अंत में शकराज प्रस्ताव में ध्रुवस्वामिनी की माँग करता है तो ध्रुवस्वामिनी की राजा से भेंट के पहले अमात्य शिखरस्वामी से ही भेंट होती है । रामगुप्त शकराज के प्रस्ताव को इस उद्देश्य से स्वीकार करता है कि उसे शक स्थाही सभी शत्रुओं से मुक्ति मिल जायगी । शिखरस्वामी के नीच राजनैतिक सिद्धान्तों को सुनकर ध्रुवस्वामिनी को मर्मान्तक पीड़ा होती है । वह रानी और स्त्री के नाम पर राजा से प्रार्थना करती है, उसके विलास की सहचरी बनने को प्रस्तुत होती है, पर उस नपुंसक, भोग-जर्जर, राजा के यहाँ सब व्यर्थ होता है । आत्म-सम्मान के ठुकराए जाने से तिलमिला उठती है - **''पुरूषों ने स्त्रियों को अपनी पशु-संपत्ति समझकर उनपर अत्याचार करने का अभ्यास कर लिया है, वह मेरे साथ नहीं चल सकता । यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते**

और अपने कुल की मर्यादा नारी का गौरव नहीं बचा सकते, तो मुझे बेच भी नहीं सकते तुम लोगों को आपत्ति से बचाने के लिए मैं स्वयं यहाँ से चली जाऊँगी । अंत में विवश होकर आत्महत्या कर स्त्रीत्व के मर्यादा की रक्षा के लिए तैयार होती है ! ''निर्लज ! मद्यप !! क्लीब !!! ओह, तो मेरा कोई रक्षक नहीं । नहीं, मैं अपनी रक्षा स्वयं करूँगी । मैं उपहार में देने की वस्तु शीतल मणि नहीं हैं । मुझ में रक्त की तरल लालिमा है । मेरा हृदय उष्ण है और उसमें आत्मसम्मान की ज्योति है । मेरा हृदय उष्ण है और उसमे आत्मसम्मान की ज्योति है । उसकी रक्षा मैं करूँगी ।'' अब ध्रुवस्वामिनी कटार निकालती है तो रामगुप्त को भय होता है कि मेरी हत्या ना कर दे । इस पर ध्रुवस्वामिनी कहती है - ''तुम्हारी हत्या ? नहीं तुम जिओ । भेड़ की तरह तुम्हारा क्षुद्र जीवन ! उसे न लूँगी । मैं अपना ही जीवन समाप्त करूँगी ।'' इस पर रामगुप्त और चिन्तित होकर चिल्ला उठता है - ''किन्तु तुम्हारे मर जाने के बाद उस शकराज के पास किसको भेजा जाएगा ? नहीं, नहीं ऐसा ना करो । हत्या, हत्या, दौड़ो, दौड़ो ।'' कहने लगता है ।

यह सभी बातें बन्दीगृह में चन्द्रगुप्त सुन लेता है । श्रृंखलाओं को तोड़कर बाहर निकल आता है । ध्रुवस्वामिनी के हाथ में कटार देकर कहता है - ''यह क्या ? महादेवी ठहरिए ।''

ध्रुवस्वामिनी को जब कि उसका आत्मसम्मान ठुकरा दिया गया हो, जब कि वह 'अपमान में निर्वसन' होने से 'मृत्यु की चादर' से पने को ढँक लेना चाहती हो, चन्द्रगुप्त का आना खलता है । विक्षुब्ध होकर वह कह उठती है - **''कुमार ! इसी समय तुम्हें भी आना था । मैं प्रार्थना करती हूँ कि तुम यहाँ से चले जाओ । मुझे अपमान में निर्वसना देखने का किसी पुरूष को अधिकार नहीं । मुझे मृत्यु की चादर से अपने को ढँक लेने दो ।''**

चन्द्रगुप्त के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता जब वह देवी से सुनता है कि शकराज को मेरी परम आवश्यकता है । यह अवरोध बिना मेरा उपहार दिये नहीं हट सकता । आज मुझे शक

-शिबिर में पहुँचाने के लिए उसी प्रकार तुमकों मेरे साथ चलना होगा जिस प्रकार तुम प्रसन्नता से मुझे गुप्त-कुल में लाने के लिए मेरी शिविका के पीछे विश्वासपूर्ण मुखमण्डल से आए थे । अब वह धुवदेवी को राजा आज्ञा सुनता है तो प्रतिज्ञा करता है कि मेरे जीवित रहते आर्य समुद्रगुप्त के स्वर्गीय गर्व को इस तरह पद-दलित नहीं होना पड़ेगा । वह स्वयं ध्रुवस्वामिनी बनकर शकराज के यहाँ जाने के लिए तैयार हो जाता है । ध्रुवस्वामिनी कुमार से राजा की इच्छा व्यक्त करती है कि वे मुझसे और तुम से एक बार ही छुटकारा पाना चाहते हैं । एक मदान्ध राजा की इच्छा की पूर्ति के लिए दोनों जाते हैं ।

उधर शकराज की बर्बरता और अन्यमनस्कता से उसकी प्रेमिका उदास है । नारी जीवन की साकार प्रतिमा भी शकराज से स्नेह करती है । राजनीति का प्रतिशोध, क्या एक नारी को कुचले बिना नहीं हो सकता ?'' आचार्य मिहिरदेव भी शकराज को समझाते हुए कहते हैं - ''राजा ! स्त्रियों का स्नेह-विश्वास भंग कर देना, कोमल तन्तु को तोड़ने से भी सहज है, परंतु सावधान होकर उसके परिणाम को भी सोच लो ।'' शकराज आचार्य मिहिरदेव के वचनों को उपेक्षा के बाद चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी जो परस्पर स्नेह सूत्र से आबद्ध हैं, मर्यादा की रक्षा के लिए शकराज के समीप पहुँचते हैं । शकराज ध्रुवस्वामिनी को ना पहचान कर दोनों को ही रानी समझ लेने के लिए प्रस्तुत है । अवसर पाकर चन्द्रगुप्त शकराज का अंत कर देता है ।

तृतीय अंक में मन्दाकिनी चन्द्रगुप्त, रामगुप्त, ध्रुवस्वामिनी पुरोहित आदि दिखाई देते हैं । ध्रुवस्वामिनी छल और कपट पुरोहित द्वारा किये गए 'महादेवी' संबोधन से व्यथित होती हैं और उनकी भर्त्सता करती है । चन्द्रगुप्त बन्धी कर लिया जाता है । ध्रुवस्वामिनी की प्रेरणा और प्रोत्साहन से चन्द्रगुप्त आवेश में आकर लोह श्रृंखला तोड़ डालता है । रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष (विवाह-विच्छेद) के लिए पुरोहित व्यवस्था कर देता है - ''मैं स्पष्ट

कहता हूँ कि धर्म-शास्त्र रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष की आज्ञा देता है ।'' सभी सामन्तों की अनुमति से चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी परणिय-सूत्र में बन्धते हैं । चन्द्रगुप्त राज्य का अधिकार अपने हाथ में लेता है ।

14.4. नाटक तत्वों के आधार पर 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक का विवेचन

देशकालंगत परिस्थितियों की कुछ विशेषताओं को छोड़कर नाटक का विकसित स्वरूप पाश्चात्य और प्राच्य सभी देशों में लगभग समान तत्वों पर आधृत हैं । नाटक रचना के अनिवार्य तत्व निम्नलिखित हैं -

1. कथावस्तु
2. चरित्र-चित्रण
3. कथोपकथन
4. देशकाल तथा वातावरण
4. भाषा शैली
5. उद्देश्य

कथावस्तु को विकास दृष्टि से पाश्चात्य विद्वानों ने पाँच अवस्थाओं में विभक्त किया है -

1. प्रारंभिक अवस्था
2. संघर्ष का विकास
3. चरमसीमा
4. संघर्ष का हास
5. उपसंहार या परिणति ।

भारतीय आचार्यों ने कथावस्तु की इन अवस्थाओं को प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम की संज्ञा से अभिहित किया है । इन पाँच अवस्थाओं में विभक्त होकर ही किसी नाटक की कथावस्तु अपने लक्ष्य में सफलीभूत हो सकती है ।

14.5. विवेचन

ध्रुवस्वामिनी में कार्य की पाँचों अवस्थाओं का विभाजन तीन अंकों में बड़े ही सुन्दर ढंग से हुआ है । आरंभ और प्रयत्न की प्रथम अंक में, प्राप्त्याशा की द्वितीय अंक में और नियताप्ति और फलागम की तृतीय अंक में स्थापना हुई है । नाटक के आरंभ में ही विरोध के कारण स्पष्ट दिखाई देने लगता है । ध्रुवस्वामिनी कहती है - ''मुझ पर राजा का कितना अनुग्रह है, वह भी आज तक मैं न जान सकी । मैंने तो कभी उनका मधुर संभाषण सुना ही नहीं । विलासिनियों के साथ मदिरा में उन्मत्त, उन्हें अपने आनंद से अवकाश कहाँ ? '' दूसरी ओर उसी स्थल पर जो उसके हृदय में चन्द्रगुप्त के प्रति अनुरागोदय होता है । वह भी फलाप्राप्ति के आरंभ की स्पष्ट सूचना है । लेकिन ध्रुवस्वामिनी के निश्चय में आरंभ नाम की कार्यावस्था का प्रारंभ होता है :- **'पुरूषों में स्त्रियों को अपनी पशु संपत्ति समझकर उनपर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है, वह मेरे साथ नहीं चल सकता । यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते, अपने कुल की मर्यादा, नारी का गौरव नहीं बचा सकते, मुझे बेच भी नहीं सकते ।'** यहाँ हमें स्पष्ट मालूम हो जाता है कि ध्रुवस्वामिनी राष्ट्र और अपने पद-गौरव की रक्षा के लिए कुलनिश्चय हो गई है । यही फल-प्राप्ति का आरंभ है । इसके बाद प्रयत्न की अवस्था वहाँ से चलती है जहाँ ध्रुवस्वामिनी आत्महत्या करने के लिए उद्युक्त है, परंतु सहसा चन्द्रगुप्त के आगमन से उसका वह व्यापार रुक जाता है और स्थिति में परिवर्तन उत्पन्न होता है । चन्द्रगुप्त के सहयोग से ध्रुवस्वामिनी प्रयत्न पक्ष का विचार करती है । ध्रुवस्वामिनी के इस मन्तव्य से प्रयत्न नामक कार्यावस्था का आरंभ होता है - **''कुमार, तो हम लोगों का चलना निश्चित है । अब इसमें विलंब की आवश्यकता नहीं । शकराज का सामना करने का यह निश्चल फल प्राप्ति के लिए प्रयत्नरूप में है ।''** इसके बाद द्वितीय अंक में केवल प्राप्त्याशा का ही प्रसंग चलता है । तृतीय अंक के आरंभ में ही जो पुरोहित का सामना हुआ है वह मोक्ष-फलकों सिद्ध करने

के लिए है । ध्रुवस्वामिनी का यह प्रश्न ही इस विवाद को उठाता है - आपका कर्मकाण्ड और आपके शास्त्र, क्या सत्य हैं, जो सदैव रक्षणीय स्त्री की यह दुर्दशा हो रही हैं । प्रसंग के अंत में आते आते इस प्रश्न का उत्तर धर्माध्यक्ष देता है - **''यह रामगुप्त मृत और प्रत्नजित तो नहीं, पर गौरव से नष्ट आचरण से पतित और कर्मों से राजकीय क्लीव है । ऐसी अवस्था में रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नहीं । ..... मैं स्पष्ट कहता हूँ कि धर्मशास्त्र, रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष की आज्ञा देता है ।''** इस स्थिति के पूर्व ही शकराज के वध से उत्पन्न हुई फल-प्राप्ति की आशा वहाँ निश्चय का रूप धारण कर लेती है जहाँ चन्द्रगुप्त ने अपने मन में यह निश्चय किया था ''धुवदेवी मेरी है । (ठहरकर) हाँ, वह मेरी है । उसे मैंने आरंभ से ही अपनी संपूर्ण भावना से प्यार किया है ।'' इसी समय रामगुप्त ने सैनिकों से निरीह शकों के संसार से उद्विग्न सामंत (चन्द्रगुप्त) कुमार का यह मत - ''मैं सच कहता हूँ कि रामगुप्त जैसे राजपद को कलुषित करनेवाले के लिए मेरे हृदय में तनिक भी श्रद्धा नहीं ।'' फल-प्राप्ति का निश्चय कर लेता है । ध्रुवदेवी को अभीप्सित फल प्राप्ति का निश्चय होता है ।

14.6. चरित्र-चित्रण

इस नाटक के प्रमुख पात्र ऐतिहासिक व्यक्तित्व संपन्न हैं । नारी पात्रों में कोमा और मंदाकिनी कल्पित पात्र हैं । पात्रों के चरित्र चित्रण में उनके बाह्य जीवन की विषमताओं के साथ यत्र-तत्र आंतरिक भावों की उथल-पुथल को भी चित्रित किया गया है । इस नाटक में केवल तीन प्रमुख पात्र है - ध्रुवस्वामिनी, रामगुप्त और चन्द्रगुप्त । प्रतियोगी भी तीन ही हैं - शकराज, कोमा और शिखरस्वामी । मंदाकिनी ध्रुवदेवी की सहचरी मात्र है । मिहिरदेव के स्वरूप का वैलक्षण्य प्रभावशाली है । प्रसंगानुसार पुरोहित का चरित्र भी महत्वपूर्ण हैं । रामगुप्त की नस नस में छल कपट है और शकराज भौतिक सुख और विलास में परम

आनंद माननेवाला तथा धूमकेतु से डरनेवाला व्यक्ति है । ध्रुवस्वामिनी स्वाभिमानी की ज्वालामयी नायिका है । कोमा में नारी के प्रेम का चरमोत्कृष्ट रूप हम पा सकते हैं ।

14.7. कथोपकथन व संवाद

इस नाटक में संवादों का विशेष औचित्य और सौंदर्य हैं । प्रसाद के अन्य नाटकों की तरह इसमें काव्यात्मक शैली के कथोपकथन नहीं हैं । व्यवहारिकता से अधिक प्रयोग के कारण निरर्थक विस्तार नहीं हो पाया है । वस्तु निवेदन में सीधापन है ।

प्रथम एवं द्वितीय अंकों के आरंभ में ध्रुवस्वामिनी और कोमा के स्वागत भाषण को छोड़कर और कोई स्थल अधिक विस्तारपूर्वक नहीं है । ध्रुवस्वामिनी में सर्वत्र सरल संवाद दृष्टिगोचर होते हैं जो पात्रों पर प्रकाश डालनेवाले हैं । उदा : **ध्रुवस्वामिनी** :- मैं जानना चाहती हूँ कि किसने सुख-दुख मेरा साथ न छोड़ने की प्रतिज्ञा अग्नि देवी के सामने की है ।

रामगुप्त :- (चारों ओर देखकर) किसने की है, कोई बोलता क्यों नहीं ?

ध्रुवस्वामिनी :- तो क्या मैं राज़ाधिराज रामगुप्त की महादेवी नहीं हूँ ?

रामगुप्त :- क्यों नहीं ? परंतु रामगुप्त ने ऐसी कोई प्रतिज्ञा न की होगी । मैं तो उस दिन द्राक्षारस में डुबकी लगा रहा था । पुरोहितों ने न जाने क्या-क्या पढ़ा दिया होगा । उन सब बातों का बोझ मेरे सिर पर !!

संपूर्ण नाटक में संवाद बड़े ही वेगयुक्त और आवेशपूर्ण हैं । इस नाटक के संवादों की यह सबसे बड़ी विशेषता है । ध्रुवदेवी चन्द्रगुप्त और मंदाकिनी के संवादों में प्रधानतः संवेग दिखाई देता है ।

14.8. देशकाल तथा वातावरण

ध्रुवस्वामिनी में वस्तुस्थिति का जैसा वर्णन मिलता हैं उसके आधार पर तत्कालीन राजनितिक अवस्था का पूरा-पूरा परिचय मिल जाता है । कायर क्लीव, रामगुप्त के शासन की शिथिलता तथा अवसर की ताक में बैठा हुआ शकराज, असंतुष्ट सामंत तथा अत्याचार से पीड़ित जनता जो परिवर्तन का अवसर ढूँढ रही है आदि का स्पष्ट चित्र लक्षित होता है । प्रसाद का हृदय विधान ही उनके पात्रों के नाम, वेश, भूषा और अवतारित सभी देशकाल के अनुकूल हैं ।

14.9. भाषा शैली

प्रसाद जी की भाषा की दुरूहतत्व क्लिष्टता की जगह ध्रुवस्वामिनी में सरलता ने ले ली है । इसकी भाषा-शैली पात्रानुकूल तथा सक्षम है । ध्रुवस्वामिनी की भाषा शैली के देशकाल तथा वातावरण के अनुकूल होने के कारण नाटक की स्वाभाविकता को किसी प्रकार का आघात न पहुँचा है ।

14.10. उद्देश्य

नाटककार का उद्देश्य असम विवाह की भयंकरता, तथा दुर्बलता, अत्याचारी, राजा के शासन की उच्छृंखलता दिखाना ही नहीं है बल्कि उनका समाधान प्रस्तुत करना भी है ।

नाटक के दूसरे तत्वों पर विचार किया जाय :-

भारतीय दृष्टिकोण से नाटक में रस की प्रधानता होनी चाहिए और पश्चिमी दृष्टि से संघर्ष और कार्य व्यापार की ।

ध्रुवस्वामिनी में वीर रस की प्रधानता है, अवश्य ही सहायक रूप में श्रृंगार भी दिखाई पड़ता है । स्थायी भाव उत्साह है जो ध्रुवस्वामिनी के प्रत्येक व्यापार में उपस्थित है । आलंबन रामगुप्त है, क्योंकि उसी के कारण ध्रुवदेवी को उत्साह भरे प्रयत्न करने पड़ते हैं । शकराज का प्रसंग उद्दीपन रूप है । हर्ष आदि संचारी

भाव हैं । इस प्रकार विभावानुभाव व्यभिचारी के संयोग से वीररस की निष्पत्ति हुई है । समूचे नाटक में बाह्य व आंतरिक संघर्ष भरे पड़े हैं । ध्रुवस्वामिनी व चन्द्रगुप्त के अंतर्द्वन्द्व का सुचारू रूप से चित्रण किया गया है ।

नाटक का आरंभ और अंत बड़ा ही कलात्मक है । प्रकृति की गोद में शिबिर के कोने से निकलती हुई ध्रुवस्वामिनी को उन्नत पर्वत शिखर और उसके चरणों में लिपटी लता को देखकर पुरूष और नारी की वास्तविक स्थिति का ज्ञात होता है । एक ओर तो ऐसी दीन अवस्था और विवशता है फिर भी सारे विघ्नों और संकटों की पराजित कर ध्रुवस्वामिनी की विजय के साथ नाटक का अंत होता है ।

ध्रुवस्वामिनी प्रसादजी की अंतिम नाट्यकृति है । रंगमंच और अभिनय की दृष्टि से यह बहुत ही सफल रचना है । संकलतत्रय स्थान, समय एवं व्यापार का निर्वाह इस नाटक में भली भांति हुआ है । रंगनिर्देश की पद्धति को नाटककार ने विस्तारपूर्वक यहाँ अपनाया है । वेशभूषा, रंगमंच की साज-सज्जा और स्थिति परिचय के लिए इस नाटक में पर्याप्त निर्देश दिये गये है । रंगमंच की सुविधाओं पर भी नाटककार ने ध्यान दिया है । यह स्पष्ट है कि नाट्यकला की दृष्टि से ध्रुवस्वामिनी की मीमांसा की जाय तो यह खरा उतरेगा ।

14.11. बोध प्रश्न

1. नाटक के तत्वों के आधार पर ध्रुवस्वामिनी नाटक की विवेचना कीजिए ।
2. 'ध्रुवस्वामिनी नाटक' का कथासार लिखिए ।

NOTES

इकाई पन्द्रह : ध्रुवस्वामिनी नाटक के प्रमुख पात्रों का परिचय

इकाई की रूपरेखा

15.0. उद्देश्य

15.1. प्रस्तावना

15.2. नायक चन्द्रगुप्त

15.3. कापुरुष रामगुप्त

15.4. नायिका ध्रुवस्वामिनी

15.5. अधिकारिणी के रूप में ध्रुवस्वामिनी

15.5.1. स्वाभिमानी ध्रुवस्वामिनी

15.5.2. दूरदर्शी के रूप में ध्रुवस्वामिनी

15.5.3. प्रेमिका के रूप में ध्रुवस्वामिनी

15.6. परिस्थिति के अनुसार ध्रुवस्वामिनी

15.7. बोध प्रश्न

15.0. उद्देश्य

पिछले इकाई में आपने ध्रुवस्वामिनी नाटक की कथा के बारे में अध्ययन किया । अत्यंत विशद रूप से प्रसाद की नाट्य-कला-शैली के बारे में जानकारी भी प्राप्त कर लीं ।

15.1. प्रस्तावना

इस इकाई में प्रमुख पात्र नायक चन्द्रगुप्त तथा महादेवी ध्रुवस्वामिनी का चरित्र-चित्रण अध्ययन करेंगे । इस इकाई अध्ययन के बाद आप जान सकेंगे कि 'ध्रुवस्वामिनी' एक दूरदर्शी, स्वाभिमानी, एक सच्चे अधिकारिणी भी थी । उसके चरित्र के विविध रूप हम देख सकते हैं ।

15.2. नायक चन्द्रगुप्त

काव्यों में वर्णित नायक के सब गुण चन्द्रगुप्त में दिखाई पड़ते हैं । वह त्यागी, पंडित, कुलीन, लक्ष्मीवान् लोगों के अनुराग का पात्र, रूप यौवन और उत्साह से युक्त, तेजस्वी मदुर एवं सुशील पुरूष है । प्रकृति से ही वह वीर, गंभीर, उदार, निर्भीक और कर्तव्यपरायण है । स्वर्गीय सम्राट समुद्रगुप्त द्वारा निर्वाचित उत्तराधिकारी चन्द्रगुप्त गुप्तकुल की गौरव-रक्षा के विचार से ही शासन भार रामगुप्त के ऊपर छोड़ देता है । अपने समान और संपूर्ण गुप्तकुल के गौरव का विचार रखनेवाला वह युवक अपने बाहुबल और भाग्य पर विश्वास रखता है । पिता द्वारा उत्तराधिकारी निर्वाचित होने पर भी भाई रामगुप्त द्वारा शासनाधिकार हड़प लिए जाने पर तथा यह जानते हुए भी कि लोग रामगुप्त से विरोध भाव रखते हैं, वह अधिकार पाने की चेष्टा नहीं करता । एक आज्ञाकारी भाई की तरह उसकी आज्ञाओं का उचित अथवा अनुचित पालन करता है । **''महादेवी ! जिस मर्यादा के लिए जिस महत्व को स्थिर रखने के लिए, मैंने राजदंड ग्रहण न करके अपना मिला हुआ अधिकार छोड़ दिया, उसका यह**

अपमान !! मेरे जीवित रहते आर्य समुद्रगुप्त के स्वर्गीय गर्व को इस तरह पद-दलित होना न पड़ेगा ।'' उससे छल सहा नहीं जाता । धूर्ती, छली, कपटी, स्वार्थी शिखरस्वामी जब उसे याद दिलाना चाहता है कि विनय गुप्तकुल का सर्वोत्तम, गृह-विधान है तब वह तिलमिला उठता है । व्यंग्य से हँसकर कहता है - **''अमात्य, तभी तो तुमने व्यवस्था दी है, कि महादेवी को देकर भी सन्धि की जाय ! क्यों, यही तो विनय की पराकाष्ठा है, ऐसा नियम प्रवंचकों का आवरण है, जिसमें शील न हो । ..... कापुरुष । आर्य समुद्रगुप्त का सम्मान..... ।''** वह विश्वास रखता है कि शील परस्पर सम्मान की घोषणा करता है ।

चन्द्रगुप्त गुप्तकुल की गौरव-रक्षा के लिए सदैव कटिबद्ध है । यही कारण है कि वह मर्यादा की सीमा की हमेशा रक्षा करता रहा ।

ध्रुवस्वामिनी ने चन्द्रगुप्त के हृदय के अंधकार में प्रथम किरण आकर अज्ञातभाव से अपना मधुर आलोक डाल दिया था । चन्द्रगुप्त ने आरंभ से ही अपनी संपूर्ण भावना से उसे प्यार किया है । उसके हृदय में ध्रुवस्वामिनी के लिए अनन्य अनुराग स्थापित हो चुका है, परन्तु वस्तुस्थिति से वह विवश है । इस बात को वह कभी भूल नहीं पाता कि वह उसकी वाग्दत्ता पत्नी है । लेकिन विवेकी चन्द्रगुप्त अपने हृदय पर पूर्ण नियंत्रण रखता है ।

रामगुप्त, ध्रुवस्वामिनी को शकराज के पास उपहार के रूप में भेजते देखकर वह क्षुब्ध हो उठता है । उस समय यह भूल जाता है कि रामगुप्त उसका भाई है तथा सम्राट है । वह रामगुप्त की कायरता का उपहास करता है । रामगुप्त के मुँह से आत्महत्या का शब्द सुनकर उसे तुरन्त खौल पड़ता है - **''और आप से वह भी नहीं करते बनता ।'' रामगुप्त की कायरता पर बौकला उठता है - ''तब आओ, हम लोग स्त्री बन जायँ, और बैठकर रोयें ।''** आत्महत्या के लिए प्रस्तुत ध्रुवस्वामिनी को समझाता है कि **'जीवन विश्व की संपत्ति है । प्रसाद से, क्षणिक आवेश से, या दुःख की**

कठिनाइयों से उसे नष्ट करना ठीक नहीं है । ' निर्भीक, वीर चन्द्रगुप्त गुप्तकुल-लक्ष्मी ध्रुवस्वामिनी की मर्यादा की रक्षा के लिए स्वयं स्त्री वेश में शकराज के पास जाकर उसका वध करता है । अपने कर्तव्य को निभाने में उसे परमसुख की प्राप्ति होती है । ध्रुवदेवी के मर्माहत वचन से भी वह विचलित नहीं होता है - ''तीखे वचनों से मर्माहित कर के भी आज कोई मुझे इस मृत्यु-पक्ष से विमुख नहीं कर सकता । मैं केवल अपना कर्तव्य करूँ, इसी में मुझे सुख है ।''

चन्द्रगुप्त को अपनी विवशता पर बड़ी खीझ है । उसका विनय उसे असह्य है । वह उसे शील का कपट, मोह और प्रवास मानता है । **''मैं आज यह स्वीकार करने में भी संकुचित हो रहा हूँ कि ध्रुवदेवी मेरी है । (ठहरकर) हाँ वह मेरी है, उसे मैंने आरंभ से ही अपनी संपूर्ण भावना से प्यार किया है । मैं पुरूष हूँ ? नहीं, मैं अपनी आंखों से अपना वैभव और अधिकार दूसरों को अन्याय से छीनते देख रहा हूँ और मेरी ही वाग्दत्ता पत्नी मेरे ही अनुत्साह से मेरी नहीं रही ।''** राजनीतिक छल-कपट का गला घोंटना चाहता है । मन्दाकिनी से कहता है - **''राजाधिराज का सामंत होते ही क्या हो जायगा - मैं नहीं कह सकता ।''** वह रामगुप्त की सारी दुरभिसंधि को नष्ट करके पुनः कुल गौरव की स्थापना करता है । उसे अपने स्वत्व की, अधिकार की पूरी अभिज्ञता है । शिखरस्वामी से कहता है - **''मैं भी आर्य समुद्रगुप्त का पुत्र हूँ । और शिखरस्वामी, तुम यह अच्छी तरह जानते हो कि मैं ही उनके द्वारा निर्वाचित युवराज भी हूँ । तुम्हारा नीचता असत्य है । तुम अपने राजा को लेकर इस दुर्ग से सकुशल बाहर चले जाओ । यहाँ अब मैं शकराज के समस्त अधिकारों का स्वामी हूँ ।''**

चन्द्रगुप्त का चरित्र नायकोचित है और पूरे नाटक में उसके चरित्र का विकास भी भव्य दिखाया गया है । चन्द्रगुप्त के चरित्र में नायकोचित सभी गुण पाये जाते हैं । चन्द्रगुप्त का पात्र निखरा

हुआ है । उसमें कर्तव्य और अधिकार का सुन्दर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण हुआ है ।

15.3. कापुरुष रामगुप्त

रामगुप्त सम्राट समुद्रगुप्त का पुत्र है । भारत के एक बड़े भू-भाग का शासक है । पिता द्वारा राज्याधिकारी न माने जाने पर भी वह कपट और प्रवचना द्वारा शासक हो जाता है और मनोनीत उत्तराधिकारी कुछ सोच समझ कर चुप रह जाता है । वह समुद्रगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त कामुक, विलासी, लंपट, क्लीव और प्रसादी है । वह एक अयोग्य शासक है । उसका यही रूप आद्यंत दिखाई पड़ता है । विकट परिस्थितियों को अपना अनुकूल बनाने की न उसमें बुद्धि है और न शक्ति । सबसे बड़ी चिंता उसे यही है कि - **''जगत की अनुपम सुंदरी उससे प्रेम नहीं करती और वह है इस देश का राजाधिराज ।''** उसकी पत्नी ध्रुवदेवी चन्द्रगुप्त से प्रेम करती है । वह जानता है कि ध्रुवदेवी के हृदय में चन्द्रगुप्त की आकांक्षा धीरे-धीरे जाग रही है । इस स्थिति को संभालने का जो प्रयत्न वह करता है उसमें बुद्धि का योग नहीं है । वह आदेश देता है - **''ध्रुवदेवी से कह देना चाहिए कि वह मुझे और मुझे ही प्यार करे । केवल महादेवी बन जाना ठीक नहीं ।''**

रामगुप्त में शासक अथवा पति होने के कोई गुण नहीं है । वह विलासी है और उसका सारा समय विलास में बीतता है । राजकाज से उसे कुछ मतलब नहीं । वह शिखरस्वामी के हाथ की कठपुतली है । विलासी होने पर भी उसका समय पत्नी के साथ विलास में नहीं बीतता । वह अपना समय सुर-सुन्दरियों अथवा हिजड़े, बौने, कुबड़े आदि पुरुषतत्वविहीन व्यक्तियों के बीच व्यतीत करता है । क्लीव होने के कारण पत्नी से संपर्क स्थापित नहीं करता, साथ ही अपनी इस क्लीवता के कारण अपनी पत्नी के प्रति सशंक रहता है ।

रामगुप्त को ध्रुवदेवी से प्यार नहीं है । वह कदम कदम पर उसकी उपेक्षा करता है । रामगुप्त के दर्शन भी ध्रुवदेवी के लिए दुर्लभ हो रहे थे । रामगुप्त ने केवल रूप पर मुग्ध होकर ही ध्रुवस्वामिनी के साथ विवाह के मंत्र पढ़वाए थे और घर में रखकर पत्नी की तरह उसे कभी नहीं देखा ।

रामगुप्त एक नीच और मतलबी था । जब रामगुप्त, शकराज द्वारा घिर जाने पर उसके मन प्रतिकार की बात नहीं सोचता बदले में संधि के लिए तैयार भी हो जाता है और शकराज की माँग पूरी करने के लिए वह अपनी पत्नी 'ध्रुवस्वामिनी' को शकराज के पास भेजने में भी संकोच नहीं करता । शकराज के लज्जाजनक प्रस्ताव को स्वीकार करता है । ध्रुवदेवी को शकराज के यहाँ भेजने का निश्चय करता है तब उसकी षड्यंत्र का पता ध्रुवदेवी जान लेती है और वह रामगुप्त से पूछती है कि **''मैं जानना चाहती हूँ कि किसने सुख-दुःख में मेरा साथ ना छोड़ने की प्रतिज्ञा अग्निदेव के सामने की है ।''** निर्लज्ज रामगुप्त ध्रुवदेवी से बेझिझक कहता है - **''रामगुप्त ने ऐसी कोई प्रतिज्ञा ना की होगी.... ! मैं तो उस दिन दाक्षारस में डुबकी लगा रहा था । पुरोहितों ने न जाने क्या क्या पढ़ा किया होगा । उन सब बातों का बोझ मेरे सिर पर ।''** इस कापुरूष की निर्लज्ज बातों को सुनकर ध्रुवदेवी के मन में संदेह उत्पन्न होता है, क्या यह सचमुच समुद्रगुप्त का पुत्र है ..... !! वह अमात्य से पूछती है - **''आर्य समुद्रगुप्त के पुत्र को पहचानने में तुमने भूल तो नहीं की ? सिंहासन पर भ्रम से किसी दूसरे को न बिठा दिया ।''** रामगुप्त क्लीवों की भांति 'क्या ? क्या ?? क्या ???' ही जब करते रहता है तो अभिमानिनी ध्रुवस्वामिनी पत्नीत्व के अधिकार के भरोसे रामगुप्त को उसकी सीमा का बोध करा देती है - **''यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते, अपने कुल की मर्यादा, नारी का गौरव नहीं बचा सकते तो मुझे बेच भी नहीं सकते हो ।''** कापुरूष रामगुप्त इससे भी विचलित नहीं होता है । जब घुटने टेककर अपने स्त्रीत्व की रक्षा की भीख मांगती हुई ध्रुवस्वामिनी कहती है - ''दे**खिए,**

मेरी ओर देखिए मेरा स्त्रीत्व क्या इतने का भी अधिकारी नहीं है कि अपने को भी स्वामी समझनेवाला पुरूष उसके लिए प्राण का पण लगा सकें ।'' रामगुप्त के मुख से पाषाण से भी धिक्कार दिलानेवाले शब्द निकलते हैं - **''तुम सुंदर हो, ओह कितनी सुंदर ! किन्तु सोने की कटार पर मुग्ध होकर उसे कोई अपने हृदय में डुबो नहीं सकता ।''** जब सब प्रकार से असफल होकर दुःखी ध्रुवस्वामिनी अपने जीवन का अंत करने को उद्यत होती है तो रामगुप्त की वाणी नीचता के गहरे गर्व से चीख उठती है - **''तुम्हारे मर जाने पर बर्बर शकराज के पास किसे भेजा जायगा ।''**

कभी कभी रामगुप्त अपनी कुटिल बुद्धि का सहारा लेते हुए सामने आता है । वह शिखरस्वामी से पूछ बैठता है । **''क्यों अमात्य, जिसकी भुजाओं में बल नाहो उसके मस्तक में तो कुछ होना चाहिए ।''** वह चन्द्रगुप्त को सब झगडों का मूल कारण मानकर शकराज के पास ध्रुवदेवी की बातों से यह स्पष्ट हो जाता है - **''राजा की इच्छा क्या है, यह जानते हो ? मुझसे और तुमसे एक साथ ही छुटकारा ।''** रामगुप्त के भीतर घोर दुरभिसंधि की आंधी चल रही है और उसमें उसका प्रधान सहायक है उसका विश्वास भाजन शिखरस्वामी !!

रामगुप्त का एकमात्र लक्ष्य है बाहर और भीतर के सब शत्रुओं को एक ही चाल से परास्त करना । अपने उद्देश्य की सिद्धि के हेतु **गुप्तकुल की मर्यादा और सम्मान का भी विचार नहीं करता ।** उसके लिए अपने सबसे बड़े उत्तरदायित्व की भी वह उपेक्षा करता है अपने स्वार्थ के कुचक्र में पड़ा रामगुप्त ध्रुवस्वामिनी की प्रार्थना को ठुकराकर स्पष्ट कर देता है - **''तुम, मेरी रानी । नहीं, नहीं, जाओ, तुमको जाना पड़ेगा । तुम उपहार की वस्तु हो ! आज मैं तुम्हें किसी दूसरे को दे देना चाहता हूँ । इसमें तुम्हें क्यों आपत्ति हो ।''** जिस पद और अधिकार की लालसा के लिए उसने संपूर्ण गुरूकुल के गौरव तथा अपने व्यक्तित्व को रसातल में

पहुँचाया उसे जब वह जाते देखता है तो किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है । सशंक, भयभीत, व्यथित और निराश हो उठता है । अपनी बुद्धि और अपने शरीर का अधिकार खो बैठता है । सब अनिष्टों के शंकित मूल कारण चन्द्रगुप्त पर अचानक पीछे से आक्रमण कर बैठता है और परिणामरूप वह खुद मारा जाता है । मंदाकिनी के शब्दों में सुनिए - यदि उसमें शासक होने की योग्यता होती तो समुद्रगुप्त उसे अपना उत्तराधिकारी न बना कर चन्द्रगुप्त को क्यों बनाता ? यदि उसमें पति होने की क्षमता होती, यदि वह अपने प्रेम से ध्रुवस्वामिनी को रिझा सकता तो उसे बन्दी अवस्था में रखने की आवश्यकता क्यों होतीं, क्यों वह चन्द्रगुप्त के प्रति आकर्षित होती और क्यों उसे सोचने का मौका कि - **''मैं अपने ही प्राणों का मूल्य नहीं समझ पाती ।''** तब इस प्रकार कुचक्र रचने की आवश्यकता न होती ।

15.4. ध्रुवस्वामिनी का चरित्र-चित्रण

ध्रुवस्वामिनी का जीवन हमारे सम्मुख इस रूप में आता है । उसे उसके पिता ने सम्राट समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार करने के प्रमाण स्वरूप चन्द्रगुप्त को सौंप दिया । उसके हृदय में चंन्द्रगुप्त समा जाता है । पर रामगुप्त राज्य हस्थगत करने के साथ-साथ ध्रुवस्वामिनी से भी विवाह कर लेता है । ध्रुवस्वामिनी विवश थी और जबान बन्द थी । रामगुप्त की पत्नी होकर ध्रुवस्वामिनी ने चाहा कि चन्द्रगुप्त को भुला दे । लेकिन राजा का कठोर आदेश था कि लोकमर्यादा का भी भय था, फिर भी वह अपने को ऐसा कर पाने में असमर्थ पाती है । कदाचित वह कर पाती पर रामगुप्त क्लीव या, अतः नारी के प्रति पुरुष का जो सहज आकर्षण होता है, उसका उसमें सर्वथा अभाव था । अपनी इस कमजोरी के कारण वह ध्रुवस्वामिनी को पत्नी बनाकर भी उसका प्रेम न पा सका और ध्रुवस्वामिनी पत्नी होकर भी चन्द्रगुप्त को न भुला सकी ।

नाटक की नायिका गुप्तकुल लक्ष्मी ध्रुवस्वामिनी आत्माभिमान की सजीव सुन्दर मूर्ति है । वह जगत की अनुपम सुंदरी है । रामगुप्त के उद्‌गार इसके स्पष्ट प्रमाण हैं **''तुम सुन्दर हो, ओह कितनी सुंदर ।''** रामगुप्त जैसे क्रूर, क्लीव तथा शराबी के साथ उसका विवाह होता है । स्वाभिमान की जाज्वल्यमान नायिका ध्रुवदेवी पति की उपेक्षा से तिलमिला उठती है । रामगुप्त के यहाँ आरंभ से ही वह संदिग्ध विषम स्थितियों के बीच अपने को हिजड़ों और बौनों से घिरी हुई पाती है । यह सब होने पर भी वह प्रसन्न रह सकती थी यदि कभी उसे रामगुप्त का प्रेम प्राप्त हुआ होता ..... ! प्रेम प्राप्त होने की बात तो अलग, रामगुप्त के दर्शन भी उसके लिए दुर्लभ हो रहे थे । घबराया हुआ प्रतिहारी ध्रुवस्वामिनी के सम्मुख आकर जब कहता है - **''भट्‌टारक इधर आए हैं क्या ?'' तो व्यंग्य से मुस्कराती हुई ध्रुवस्वामिनी उत्तर देती है - ''मेरे आंचल में छिपे नहीं हैं । देखो किसी कुंज में ढूँढ़ों ।''** अपने भाग्य पर रोती हुई वह जब अपने को नहीं थाम सकती है तब व्यथा का बाँध व्यंग्य की सीमाओं को भी तोड़कर फूटने लगता है - **''मैंने तो कभी उनका मधुर संभाषण सुना ही नहीं । विलासिनियों के साथ मदिरा में उन्मत्त उन्हें अपने आनंद से अवकाश कहाँ ?''**

ध्रुवदेवी के जीवन में एक निरन्तर अभाव की रेखा ने घर कर लिया है । अपने नीरव अपमान की भर्त्सना करती हुई वह मन-ही मन सोचती है - **''सीधा तना हुआ, अपने प्रभुत्व की साकार कठोरता, अग्रभेदी उन्मुक्त शिखर और इन क्षुद्र कोमल निरीह लताओं को इसके चरणों पर लौटना ही चाहिए न ?''** वह दास-दासियों से प्रश्न करती है । पर उत्तर कौन दे ; ध्रुवस्वामिनी खीझ उठती है - **''इस अंतःपुर में न मालूम कब से मेरे लिए नीरव अपमान संचित रहा, जो मुझे आते ही मिला ।''** दुःख से पीड़ित उसका मन विवाह के अवसर पर पुरोहितों के आशीर्वाद को अभिशाप समझता है - **''उस दिन राजपुरोहित ने कुछ आहुतियों के बाद मुझे जो आशीर्वाद दिया था वह क्या अभिशाप था ?''**

..... मैं तो अपने प्राणों का मूल्य भी नहीं समझ पाती । मुझ पर राजा का कितना अनुग्रह है यह भी मैं आज तक न जान सकी । मैंने तो कभी उनका मधुर संभाषण सुना ही नहीं, विलासिनियों के साथ मदिरा में उन्मुत्त, उन्हें अपने आनंद से अवकाश कहाँ ?

दम घुटा देनेवाले ऐसे सज्जित अपमान के वातावरण में भी दासी के मुख से चन्द्रगुप्त के प्रेम का संकेत पाने के पहले ही ध्रुवस्वामिनी कह उठती है - **''तो जाने दो, छिपी हुई बातों से मैं घबरा उठती है ।''** विलासी रामगुप्त से उपेक्षित ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त के ओजस्वी मुखमंडल की याद करती है - **''कुमार की स्निग्ध, सरल और सुन्दर मूर्ति को देखकर कोई भी प्रेम से पुलकित हो सकता है ।''**

'एक पीडित की प्रार्थना' वह सुनती है किन्तु जो अपने ही प्राणों का मूल्य नहीं समझ पाती वह विषम स्थिति में निश्वास छोड़ते हुए अपने प्रेम को अपने में ही समेटकर - **''वह निरभ्र-प्राची का बाल अरूण ! आह ! राजचक्र सभा को पीसता है, पिसने दो, हम निस्सहायों को, निर्बलों को पिसने द्यो ।''** कह सकने के अतिरिक्त कर ही क्या सकती है ?

15.5. अधिकारिणी के रूप में ध्रुवस्वामिनी

ध्रुवस्वामिनी गर्व की प्रतिमा है । मर्यादा और अधिकार का विचार उसके प्रत्येक कार्य-व्यापार से लक्षित होता है । यही कारण है कि जब शिखरस्वामी रामगुप्त के इशारे से ध्रुवस्वामिनी को शकराज को देने की बात सामने रखता है तो चोट खाई हुई सर्पिणी की तरह फुफकराती है - **''मैं जानना चाहती हूँ कि किसने सुख-दुःख में मेरा साथ छोड़ने की प्रतिज्ञा अग्निवेदी के सामने की है ?''** कापुरूष रामगुप्त की नीचता पर क्षुब्ध होकर कहती है - **''पुरूषों ने स्त्रियों को अपनी पशु-संपत्ति समझकर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है, वह मेरे साथ नहीं चल सकता ।''** गर्व की प्रतिमा ध्रुवस्वामिनी अपने पत्नीत्व की मर्यादा

रखने के लिए एक बार हृदय पर पत्थर रखकर पशु रामगुप्त के विलास की सहचरी बनने का प्रस्ताव करती है - **''आज मैं शरण की प्रार्थिनी हूँ । मैं स्वीकार करती हूँ कि आजतक मैं तुम्हारे विलास की सहचरी नहीं हुई किन्तु वह मेरा अहंकार चूर्ण हो गया है । मैं तुम्हारी होकर रहूँगी ।''** इस विवशता में मर्यादा-निभाने की आकांक्षा स्पष्ट लक्षित होती है । परंतु इसके उत्तर में भी - **'तुम, मेरी रानी ! नहीं, नहीं ! जाओ, तुमको जाना पड़ेगा । तुम उपहार ही वस्तु हो ।' ''यह बात सुनकर उसमें तात्कालिक परिवर्तन उत्पन्न होता है ।''** अपने को सब प्रकार से अरक्षित पाकर उसके भीतर से वह शाश्वत नारीत्व गरज उठता है जिसके बल पर नारी-जगत अनंतकाल से अपने प्राण-धर्म की रक्षा करता आ रहा है । गुप्तकुल की लक्ष्मी निश्चय कर लेती है - **'मेरा हृदय उष्ण है और उसमें आत्मसम्मान की ज्योति है । उसकी रक्षा मैं ही करूँगी ।'** इसी निश्चय के अनुसार वह आत्महत्या के लिए तैयार होती है, उसी समय कुमार चन्द्रगुप्त का सहसा प्रवेश होता है ।

15.5.1. स्वाभिमानी ध्रुवस्वामिनी

स्वाभिमान की उज्वल मूर्ति ध्रुवस्वामिनी को उस समय जब कि उसके आत्मसम्मान को इतना गहरा धक्का हो, जब वह अपने आप को अपमान से बचाने के लिए मौत की शीतल गोद में शरण लेना चाहती है, चन्द्रगुप्त का वहाँ आगमन होता है । तब क्षोभ से कह उठती है - **'कुमार ! इसी समय तुम्हें भी आना था !! मैं प्रार्थना करती हूँ कि तुम यहाँ से चले जाओ । मुझे अपने अपमान में निर्वासना देखने का किसी पुरूष को अधिकार नहीं । मुझे मृत्यु की चादर से अपने को ढ़क लेने दो ।'** आत्म-गौरव, कुल-मर्यादा और प्रेम के लिए अपने प्राणों पर खेल जाने के लिए तैयार चन्द्रगुप्त जब आत्महत्या का विरोध करता है तो फिर ध्रुवस्वामिनी में दूसरे प्रकार का परिवर्तन उत्पन्न होता है । इस परिवर्तन में मोह और कर्तव्य की प्रेरणा है । वह फिर निश्चय करती है - **'नहीं मैं नहीं मरूँगी, आत्महत्या नहीं करूँगी ।'**

15.5.2. दूरदर्शी के रूप में ध्रुवस्वामिनी

ध्रुवस्वामिनी न केवल दूरदर्शी ही नहीं बल्कि व्यवहार कुशल भी है । जब चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी के वेष में खुद शकराज के यहाँ जाने का प्रस्ताव करता है तो ध्रुवस्वामिनी की सूक्ष्म बुद्धि इस तथ्य को परखने से चूकती नहीं कि "राजा की इच्छा क्या है, यह जानते हो ? मुझसे और तुम से एक साथ की छुटकारा । तो फिर वही कयों न हो ? हम दोनों ही चलेंगे ।

ध्रुवस्वामिनी में साहस,दृढ़ता तथा निर्भीकता कूट-कूटकर भरी हुई हैं । चन्द्रगुप्त का सहयोग पाकर वह निःशंक साहस से कहती है - **'तो कुमार हम लोगों का चलना निश्चित ही है । अब इसमें विलंब की आवश्यकता नहीं । आज मेरी असहायता मुझे अमृत पिलाकर मेरा निर्लज्ज जीवन बढ़ाने के लिए तत्पर है ।'** इस जीवन के बढ़ाने में ही उसे अन्याय के प्रतिकार का अवसर मिल सकता है । यही अवसर उसके जीवन के लिए कल्याण का मार्ग बन सकता है ।

दृढ़ता की प्रतिमा ध्रुवस्वामिनी निर्भीक होकर शकदुर्ग में पहुँचती है । वहाँ पर भी वह विषम परिस्थितियों का बड़े धैर्य के साथ सामना करती है । इस विवशता में जब उसे अपने भविष्य से लड़ने और अपने भाग्य का निर्माणकार्य अपने हाथों में लेने की आवश्यकता उपस्थित होती है, उस समय वह अपनी सूक्ष्मदर्शिता का सही उपयोग कर लेती है ।

15.5.3. प्रेमिका के रूप में ध्रुवस्वामिनी

ध्रुवस्वामिनी जीवन में राज महिषी है, पत्नी है और प्रेमिका है । रामगुप्त गुप्त साम्राज्य का शासक है और उसकी पत्नी होने के नाते वह साम्राज्ञी है, महादेवी है और चन्द्रगुप्त को प्रेम करती है इस रूप में वह प्रेमिका है । पर उसके जीवन के ये तीनों रूप एक दम दबे हुए हैं । पत्नी होकर भी उसे पति का प्रेम प्राप्त नहीं है ।

साम्राज्ञी होकर भी वह अपने अधिकारों से सर्वथा वंचित है । उसकी कोई पूछ नहीं, उसकी कोई सत्ता नहीं । उसने उन्हें अपने इन शब्दों में व्यक्त किया है -

'इस राजकुल के अंतःपुर में मेरे लिए न जाने कब से नीरव अपमान संचित रहा, जो मुझ आते ही मिला .... इस राजकीय अंतःपुर में सब जैसे एक रहस्य छिपाये चलते हैं । बोलते हैं और मौन हो जाते हैं । .... राजकुल में एक भी संपूर्ण मनुष्यता का निदर्शन न मिलेगा क्या ? आगे किन्तु मेरा नीड़ कहा है ? वह तो स्वर्ण पिंजर है ।'

दांपत्य जीवन का स्वरूप उसके अपने इन शब्दों से व्यक्त हो जाता है - **'उस दिन राज महापुरोहित ने कुछ आहुतियों के बाद मुझे जो आशीर्वाद दिया था, क्या वह अभिशाप था ? .... मैं तो अपने प्राणों का मूल्य भी नहीं समझ पाती । मुझ पर राजा का कितना अनुग्रह है यह भी मैं आज तक न जान सकी । मैंने ते कभी उनका मधुर संभाषण सुना ही नहीं । विलासिनियों के साथ मदिरा में उन्मत्त, उन्हें अपने आनंद से अवकाश कहाँ ? '** उसकी यह दयनीय अवस्था इस छोटे से वाक्य से स्पष्ट हो जाती है जो उसने प्रतिहारी के इस प्रश्न का उत्तर भट्टारक घर आय हैं । उत्तर अपनी अंतर्वेदना को व्यंगपूर्ण मुस्कराहट में परिणत करके दिया था - 'मेरे आंचल तल में छिपे नहीं हैं ।'

इस स्वर्ण पिंजर का वास्तविक स्वरूप तब प्रकट होता है जब वह अपने पद की महत्ता को आँकने के लिए कहती है **'मैं महादेवी ही हूँ न ? '** और उसे उत्तर मिलत है परिचारिका की ओर से **'क्षमा कीजिए । इसके लिए तो अमात्य से पूछना होगा ।'**

पत्नी और महिषी के संयुक्त रूप में ध्रुवस्वामिनी का मूल्य उसके पति और सम्राट की दृष्टि में उपहार की वस्तु से अधिक नहीं है । वह कहता है - **'आज मैं तुम्हें किसी दूसरे को दे देना चाहती हूँ । इसमें तुम्हें क्यों आपत्ति है ।'**

प्रेमिका के रूप में भी उसका विदग्धा स्वरूप ही सामने दिखाई पड़ता है । चन्द्रगुप्त को प्रेम करती है पर उसको प्रकट नहीं कर सकती । वह उसे इस प्रकार दबाये हुए है कि उसका प्रेमी चन्द्रगुप्त भी उसकी जान नहीं पाता । उसे यह पुछवाने की आवश्यकता होती है 'मेरा अपराध क्या है ।' उसे व्यक्त भी करती है तो अत्यंत सीमित और अंतुलित शब्दों में **'कुमार की स्निग्ध, सरल और सुंदर मूर्ति देखकर कोई भी प्रेम में पुलकित हो सकता है ।'** किंतु जब खड्गधारिणी चन्द्रगुप्त के जीवन की कठिन परिस्थिति को बता कर उसके अंतर पर आघात सा करती है - 'कुमार को इतने से ही संतोष होगा कि उन्हें कोई विश्वास पूर्वक स्मरण कर लेता है' तो उसका दबा हुआ प्रेम समवेदना का रूपधारण कर बोल उठता है, अनजाने ही 'किन्तु उन्हें कोई ऐसा काम नहीं करना चाहिए जिसमें उनकी परिस्थिति और भी भयानक हो जाय ।' वह चन्द्रगुप्त के समाचार से चिन्तित ही नहीं उतावली भी हो जाती है । परिचारिका से चन्द्रगुप्त को बुला लाने को भी कहती है पर उसे उसमें जो उत्तर मिलता है वह उसे उसकी विवशता पूर्ण स्थिति का बोध करा देती है ।

इस प्रकार ध्रुवस्वामिनी एक ऐसी नारी है जो पति के प्रेम से वंचित है, प्रेमी तक पहुँचने में असहाय है और अंतःपुर की दीवारों के भीतर बन्दी है फिर भी वह साम्राज्ञी कही जाती है । प्रसाद ने नारी के दयनीय स्वरूप को साकार रूप में अपने अकेले इस पात्र के माध्यम से हमारे सामने प्रस्तुत कर दिया है । किन्तु यह दयनीय स्थिति में पड़ी नारी दयनीय नहीं बनी रहती है । वह विस्फोट कर उठती है, उस समय जब उसका नारीत्व अपमान और प्रतारणा की चरम सीमा पर पहुँच जाता है ।

15.6. परिस्थिति के अनुसार ध्रुवस्वामिनी

ध्रुवस्वामिनी में परिस्थितियों से लड़ने की अपूर्व शक्ति क्षमता है । एक ही मार से घायल होकर बैठ जानेवाली नारियों में वह नहीं है । वह विद्रोह करना चाहती है । अन्याय को चुपचाप

सहन करने के लिए उसका हृदय तैयार नहीं है । विलासी रामगुप्त और दंभी शकराज के अन्याय के खिलाफ लड़ने के बाद वह उस राक्षस विवाह का विरोध करती है जिसके कारण घोर जनसंहार के साथ गुप्त-साम्राज्य के गौरव को धक्का लगा । कर्मकांड तथा धर्मशास्त्र के प्रतिनिधि पुरोहित के सम्मुख आते ही ध्रुवस्वामिनी उस महत्वपूर्ण प्रश्न को उठाती है जो सदैव से विचारशील महिला-जगत की एक अनसुलझी समस्या है - **'आपका कर्मकांड और आपके शास्त्र क्या सत्य हैं, जो सदैव रक्षणीय स्त्री की यह दुर्दशा हो रही है ।'** पुरोहित से किए हुए इस प्रश्न में हृदय के सत्य पर आवरण डालनेवाले मिथ्यचार के प्रति विरोध स्पष्ट झलक रहा है । पुरोहित इसका कोई संतोषप्रद उत्तर नहीं दे पाता । वह एक बार फिर धर्मशास्त्र को देखना चाहता है । इन्हीं राजनीतिक और वैयक्तिक संघर्षों में बार-बार पड़ने के कारण ध्रुवस्वामिनी की व्यवहार बुद्धि अत्यंत कुशल हो गई है । इसका ठीक परिचय उस समय मिल जाता है जब शक-संहार से क्षुब्ध सामंत कुमार रामगुप्त के विरुद्ध हो जाते हैं और दूसरी ओर अनुकूल वातावरण बाँधकर वह चन्द्रगुप्त को भी खुलकर विरोध करने के लिए उत्साहित करती है । इस प्रकार वह समस्त परिषद्-मंडल को अपने अनुकूल और रामगुप्त के विरूद्ध बनाती है, पुरोहित को पहले से ही वह हरा चुकी है । इसलिए अंतिम स्थल पर सारी परिस्थिति को अपने अनुकूल देखकर पुरोहित भी ध्रुवदेवी के ही पक्ष में अपना निर्णय देता है - 'यह रामगुप्त मृत और प्रव्रजित तो नहीं पर गौरव से नष्ट आचरण से पतित और कर्मों से राज क्लीव हैं । ऐसी अवस्था में रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नहीं । मैं स्पष्ट कहता हूँ कि धर्मशास्त्र रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष की आज्ञा देता है ।'

ध्रुवस्वामिनी का चरित्र कष्टों एवं संघर्षों की विषम स्थायी है । उसके रूप में नारी का बुद्धि-कौशल, साहस-शील प्रवृत्ति, और नैतिक आत्मबल का पूर्ण प्रदर्शन हुआ है ।

इस प्रकार प्रसाद जी ने नारी की दयनीय स्थिति को सामने रखते हुए ध्रुवस्वामिनी के माध्यम से पुरुषों के अत्याचारों के विरुद्ध विद्रोह करने का संदेश दिया है । किंतु इससे भी अधिक उन्होंने नारी मनोविज्ञान को बड़ी बारीकी के साथ उपस्थित किया है । ध्रुवस्वामिनी के मनोभावों का उतार चढ़ाव तो स्वाभाविक ढंग से हुआ है कि उसे नारी के अतिरिक्त कुछ दूसरा समझ का मौका ही नहीं मिलता । उसके जीवन में करुणा और प्रेम दोनों का स्रोत समान रूप से प्रवाहित हो रहा है । उसे जहाँ अपने जीवन के प्रति विराग है वहीं चन्द्रगुप्त के प्रति मोह है । परिस्थितियों की उत्तेजना में वह बुद्धिवादी होते हुए भी किंकर्त्तव्यविमूढ़ सी हो उठती है । उचित अनुचित का ज्ञान उसे नहीं रहता । पर वह जो कुछ भी करती है उसमें अस्वाभाविकता नहीं जान पड़ती । कोमा शकराज का शव माँगने आती है पर परिस्थितियों ने उसे इतना कठोर बना दिया कि है वह निष्ठुरता पूर्वक जवाब दे देती है । **'शत्रुओं के लिए मेरे पास कुछ नहीं है । अधिक हठ करने पर दंड मिलना भी असम्भव नहीं ।'** किंतु नारीत्व के कोमल तंतु को कोमा छू देती हैं । कहती है - **'रानी, तुम भी स्त्री हो । क्या स्त्री की व्यथा न समझोगी ? आज तुम्हारी विजय का अंधकार तुम्हारे शाश्वत स्त्रीत्व को ढँक ले, किंतु सबके जीवन में एक बार प्रेम को दीपावली जलती है । जली होगी अवश्य । तुम्हारे जीवन में भी वह आलोक का महोत्सव आया होगा जिसमें हृदय-हृदय को पहचानने का प्रयत्न करता है, उदार बनता है और सर्वस्व दान करने का उत्साह रखता है ।'** और ध्रुवस्वामिनी का हृदय झनझना उठता है, उसकी कटुता अधिक नग्न होकर सामने आ जाती है, पर इस बार नारीत्व के साथ । वह आज्ञा देती है - **'जलो, प्रेम के नाम पर जलना चाहती हो तो तुम उस शव को ले जाकर जलो । जीवित रहने पर मालूम होता है कि तुम्हें अधिक शीतलता मिल चुकी है । अवश्य तुम्हारा जीवन धन्य है ।'**

जीवन के इस उतार-चढ़ाव में हम प्रसाद जी के अन्य पात्रों के समान ध्रुवस्वामिनी को नियतिवादी ही पाते हैं । उसके मुँह से

हम अक्सर सुनते हैं कि **'जीवन नियति के कठोर आदेश पर चलेगा ही । नियति ने मानो लू से तपी हुई वसुधा को क्षितिज के निर्जन में सायंकालीन शीतल छाया से मिला दिया हो ।'** पर जीवन में उसे नियति के भरोसे अकर्मण्य बैठा नहीं पाते । जो कुछ हुआ, उसमें तो वह नियति का हाथ देखती है, पर भविष्य को नियति के हाथ में छोड़ कर हताश नहीं बैठ जाती । वह भविष्य को बताने का यत्न तो नहीं करती । भविष्य के लिए उसकी अपनी कोई चेष्टा भी नहीं होती, पर जो कुछ सामने आता है उसका एक बुद्धिवादी की तरह सामना करती है । उसके जीवन में आदि से अंत तक एक हलचल है, अशांत वातावरण है । उसी में वह डूबी रहती है । उसकी स्थिति उसके अपने ही शब्दों में इस प्रकार है - **'इस वक्ष में दो हृदय हैं क्या ? जब अंतरंग हाँ कहना चाहता है तो ऊपरी मन ना क्यों कहला देता है ? '**

15.7. बोध प्रश्न

1. नायक चन्द्रगुप्त का चरित्र-चित्रण कीजिए ।
2. नायिका ध्रुवस्वामिनी का चरित्रगत विशेषताओं के बारे में प्रकाश डालिए ।
3. का पुरुष रामगुप्त के बारे में एक लेख लिखिए ।

NOTES

इकाई सोलह : गौण पात्रों का परिचय

इकाई की रूपरेखा

16.0. उद्देश्य

16.1. प्रस्तावना

16.2. शकराज

16.3. शिखरस्वामी

16.4. कोमा

16.5. मन्दाकिनी

16.6. मिहिरदेव

16.7. पुरोहित

16.8. संवाद

16.9. अन्य विशेषताएँ - पद्धति की नवीनता

16.10. अभिनयात्मकता

16.11. ध्रुवस्वामिनी नाटक की समस्या

16.12. रस

16.13. संदर्भ ग्रंथ

16.14. बोध प्रश्न

16.0. उद्देश्य

पिछले इकाई में आपने चन्द्रगुप्त का चरित्र-चित्रण अध्ययन किया । का पुरुष रामगुप्त का चित्रण भी जान लिया । महादेवी त्रिपुर सुन्दरी ध्रुवदेवी का चरित्र-चित्रण और उसकी मनोभावों का भी अध्ययन किया ।

16.1. प्रस्तावना

अब इस इकाई में खलनायक शकराज का चरित्र जान सकेंगे । तत्पश्चात शिखरस्वामी का भी चरित्र जानेंगे । गौण पात्र कोमा, मंदाकिनी , मिहिरदेव आदि के बारे में अध्ययन करेंगे । नया पद्धति तथा विशेषताओं के बारे में जानेंगे और ध्रुवस्वामिनी के नाटक की समस्याओं के बारे में विस्तार रूप से जानेंगे ।

16.2. शकराज

शकराज इस नाटक का एक ऐसा पात्र है जिस पर घटनाक्रम का विकास निर्भर करता है और उसके लिए प्रसाद जी ने पूरा एक अंक दिया है । पर उसके जीवन में चढ़ाव-उतार के कोई स्थल नहीं है । वह दम्भ और अभिमान का प्रतीक है । वह अपने सामने दूसरों को कुछ नहीं समझता । नियति पर उसका विश्वास नहीं है । वह सौभाग्य और दुर्भाग्य को मनुष्य की दुर्बलता का भय मानता है । पुरुषार्थ को ही वह सबका नियम समझता है । वह मानता है कि पुरुषार्थ ही सौभाग्य को खींच लाता है और वह पुरुषार्थ के भरोसे ही सदा जीवन-मरण के प्रश्न सुलझाने में लगा रहता है । इतना होने पर भी वह युद्ध के लिए उत्सुक नहीं है । रामगुप्त दिग्विजय करने निकला और उसे युद्ध करने पर विवश होना पड़ा । जहाँ तक शकराज के जीवन का यह पहलू है, उसे हम मनुष्य के वीर भाव का सुन्दर प्रतीक कह सकते हैं, पर उसका यह सुन्दर रूप उसके विलासी और अहं स्वभाव के कारण विकृत बन गया है । शकराज एक खल नायक है । शकराज दंभ और अभिमान का प्रतिनिधि है । नाटक में शकराज के लिए पूरा

अंक ही दिया गया है । सौभाग्य और दुर्भाग्य को मनुष्य की दुर्बलता का भय समझता है - 'सौभाग्य और दुर्भाग्य मनुष्य की दुर्बलता के नाम हैं ।' पुरूषार्थ को सबका नियामक समझता है - 'मैं तो पुरूषार्थ को ही सब का नियामक समझता हूँ । पुरूषार्थ ही सौभाग्य को खींच लाता है ।' अपने से भी महान कुछ है इस पर उसे विश्वास नहीं ।

शकराज बर्बर है । जब दूत आकर सुनाता है कि संधि की शर्ते स्वीकार कर ली गई हैं, तब शकराज की प्रसन्नता सोने की झांझवाले पारसीक नृत्य के लिए आज्ञा देने के रूप में व्यक्त होती है । ध्रुवस्वामिनी की माँग कर वह तृप्ति का अनुभव कर रहा है - **'आज देवपुत्रों की स्वर्गीय आत्माएँ प्रसन्न होंगी । उनकी पराजयों का यह प्रतिशोध है । हम लोग गुप्तों की दृष्टि में जंगली, बर्बर और असभ्य हैं, फिर मेरी प्रतिहिंसा भी बर्बरता के ही अनुकूल होगी ।'**

कोमा जब राजा से होनेवाले अनर्थ की भीकरता दर्शाती है तो पापी शकराज के मुँह से निकलता है - **'पागल कोमा, वह मेरी राजनीति का प्रतिशोध है ।'** मिहिरदेव के उपालंभ की कामी शकराज उपेक्षा करके कहता है - **'मैं समझता हूँ कि आप मेरे राजनीतिक कामों में हस्तक्षेप न करें तो अच्छा है ।'**

जब शकराज के सम्मुख चन्द्रगुप्त तथा ध्रुवस्वामिनी में विवाद होने लगता है - **'मैं ध्रुवस्वामिनी हूँ, मैं ध्रुवस्वामिनी हूँ।'** तब शकराज कहता है - **'क्या बुरा है, मैं दोनों को ही ध्रुवस्वामिनी समझ लूँ ।'** यह शकराज की कामांधता की पराकाष्ठा है ।

भौतिक सुख और विलास में परम आनंद माननेवाला शकराज कोमा की भाव-उच्चता का कुछ भी विचार नहीं कर पाता है । भौतिकता का वह पुजारी जब धूमकेतु का अशुभ दर्शन करता है तब भय से विह्वल होकर कहता है - **''ओह ! भयावनी पूँछवाला धूमकेतु ! आकाश का उच्छृंखल पर्यटक ! नक्षत्रलोक का**

अभिशाप ! कोमा ! आचार्य को बुलाओ । वे जो आदेश देंगे, वही मैं करूँगा । इस अमंगल की शांति होनी चाहिए ।'' उस पापी का दुर्बल हृदय काँपने लगता है और कोमा तक से रक्षा और सहायता की वह प्रार्थना करता है । उसके चरित्र की यह दुर्बल निःसारता अवश्य ही दयनीय है । वह पुरुषार्थ की डींग हाँकता है, उसे ही नियामक मानता है ; पर हृदय से वह भीरु है । धूम्रकेतु से होनेवाले अमंगल की आशंका मन में उठते ही वह काँप उठता है और तब अपने गुरु को मनाने और उस अमंगल को शांत करने के लिए कोमा से अनुनय करने लगता है, कोमा से प्रेम की दुहाई देता है । ध्रूमकेतु को देख कर वह व्याकुल हो जाता है और उसी अवस्था में उसकी हत्या होती है ।

16.3. शिखरस्वामी का चित्रण

शिखरस्वामी, मिहिरदेव और पुरोहित इस नाटक के अन्य पात्र हैं । शिखरस्वामी गुप्तकुल का अमात्य है, किंतु वह अपने पद के सर्वथा अयोग्य है । उसमें पद-मर्यादा के अनुकूल राजनैतिक गंभीरता का सर्वथा अभाव है । वह षड्यंत्र और कुटिल योजनाएँ प्रस्तुत कर रामगुप्त को अपने हाथ में कठपुतली बनाये रखता है । ऐसा लगता है कि उसमें राजनीतिज्ञता का सर्वथा अभाव है । उससे अधिक राजनीतिक तो रामगुप्त है । रामगुप्त शिखिरस्वामी के छल से राज्य प्राप्त करता है, इसलिए वह उससे दबा है, और शिखरस्वामी में राजनीतिक बुद्धि नहीं है, इसलिये वह अपने पद की महत्ता बनाये रखने के लिए रामगुप्त का उचित-अनुचित सभी बातों का समर्थन करता है और ऊपर से राजनीतिज्ञ होने का दम्भ करता है । राजनीति की दृष्टि से वह महादेवी का शकशिविर में जाना अच्छा समझता है । उसकी राजनीति के सिद्धांत में राष्ट्र की रक्षा सब उपायों से करने का आदेश है । उसकी दृष्टि में उसके लिए राजा, रानी, कुमार अमात्य सबका विसर्जन किया जा सकता है, किंतु राज्य का विसर्जन अंतिम उपाय है । वह एक ओर तो उपदेश देता है कि विनय गुप्तकुल का सर्वोत्तम विधान है और

दूसरी ओर स्वयं व्यवस्था देता है महादेवी को देकर भी संधि की जाय ..... !

गुप्त-साम्राज्य का अमात्य शिखरस्वामी धूर्त नीच, स्वार्थ, चतुर और व्यवहार-कुशल है । वह रामगुप्त का विश्वास पात्र है । **'है न ! एक तुम्हीं मेरे विश्वास पात्र हो ।'** रामगुप्त की दुरभिसंधि में सहायक शिखरस्वामी उसके मंतव्यों को व्यवहार में सम्मुख रखता है । शकराज के यहाँ उपहार के रूप में जाने का प्रस्ताव जब ध्रुवस्वामिनी के सामने रखा जाता है तो राजा की व्यवस्था से असंतुष्ट ध्रुवदेवी जब अमात्य से प्रश्न करती है तो उसका स्पष्ट उत्तर यों मिलता है - **'मैं कहूँगा देवी, अवसर देखकर राज्य की रक्षा करनेवाली उचित सम्मति दे देना ही तो कर्तव्य है । राजनीति के सिद्धांत में राष्ट्र की रक्षा सब उपायों से करने का आदेश है । उसके लिए राजा, रानी, कुमार और अमात्य सबका विसर्जन किया जा सकता हैं, किंन्तु राज-विसर्जन अंतिम उपाय है ।'** अमात्य की कुटिलता की वाहवाही जब रामगुप्त करता है तो रूष्ट ध्रुवस्वामिनी शिखरस्वामी की धूर्तता पर उबल पड़ती है - 'अमात्य, तुम बृहस्पति हो, चाहे शुक्र, किन्तु धूर्त होने से क्या मनुष्य भूल नहीं कर सकता ?' तीसरे अंक में चन्द्रगुप्त इसकी नीचता से ऊबकर कहता है - 'तुम्हारी नीचता अब असह्य है । तुम अपने राजा को लेकर इसदुर्ग से सकुशल बाहर चले जाओ ।'

वस्तुस्थिति के अनुसार अपने को यथास्थान ठीक से बैठा लेनी की अद्‌भुत क्षमता उसमें है । अपने स्वार्थ को भली भांति पहचानकर उसकी रक्षा में सब कुछ करने को तैयार है । पहले तो सबके विरूद्ध रहने पर भी स्वर्गीय आर्य समुद्रगुप्त की आज्ञा के प्रतिकूल उसीने रामगुप्त का समर्थन किया था परंतु अंत में बना बनाया खेल बिगड़ता देखकर अपने स्वार्थ को सुरक्षित रखने के लिए परिषद की आज्ञा और निर्णय मानना, रामगुप्त के पक्ष में भी उचित बताने लगता है - **'किन्तु परिषद का विचार तो मानना ही होगा ।'**

16.4. कोमा

कोमा, आचार्य मिहिरदेव की प्रतिपालिता कन्या तथा शकराज की वाग्दत्ता पत्नी है । कोमा में नारी के प्रेम का चरमात्कृष्ठ रूप अंकित हुआ है । वह शकराज से प्रेम करती है जो अत्यंत निर्दयी, स्वार्थी, विलासी एवं प्रसादी व्यक्ति हैं । कोमा आरम्भ में उसके दीप्त पौरूष पर मुग्ध होकर अपना हृदय हार बैठती है । वह कोमलभावनाओं से ओतप्रोत है । प्रणय का तीव्र आलोक उसकी आँखों में समाया हुआ है । वह प्रेम करने की ऋतु का आनंद ले रही है जिसमें चूकना, और सोच-समझकर चलना दोनों बराबर है । वह यौवन की चंचल छाया में बैठी हुई प्रेम के एक घूँट रस के आस्वादन की कामना कर रही है । प्रेमपूर्ण भावुकता उसके चरित्र की सबसे बड़ी विभूति है । उसकी भावुकता में दार्शनिकता का योग है । मानव-शक्ति से परे भी एक महाशक्ति है, इसे वह मानती है । अभावमयी लघुता में मनुष्य जो अपने को महत्वपूर्ण दिखाने का अभिनय करता है यह उसे अच्छा नहीं लगता । वह पाषाणों के भीतर बहनेवाले मधुर स्रोत की शीतल जलधारा की भाँति निर्मल और शांतिमयी रहना चाहती है ।

शकराज से प्रेम कर उसने जो गहरी भूल की थी उसे खुद समझ लेती है । उसकी दार्शनिक बुद्धि यह तो जानती ही है कि ''संसार में बहुत नजायसी बातें बिना अच्छी हुए भी अच्छी लगती ही हैं ।'' शकराज की 'स्नेह सूचनाओं की सहज प्रसन्नता और मधुर आलापों पर'' उसने आत्मसमर्पण अवश्य कर दिया है, फिर भी प्रेम में सर्वथा मतवाली और अंधी नहीं हुई है । अभी उसमें विवेक बुद्धि सजग ही है । इसी बल पर वह शकराज के राजनीतिक प्रतिशोध का स्पष्ट विरोध करती है - 'किन्तु, राजनीति का प्रतिशोध, क्या एक नारी को कुचले बिना नहीं हो सकता ।' अपने ही समान एक कुलीन नारी का ऐसा पाशविक अपमान वह सहन नहीं कर सकती । उसके जीवन में इसी स्थल पर विवेक और मोह का कठोर संघर्ष दिखाई पड़ता है और इसी संघर्ष में

पड़ा हुआ उस कोमल रमणी का स्वरूप और भी निखर उठता है । यही स्थल उसके व्यक्तित्व का चरम उत्कर्ष है । मिहिरदेव इस मोह-बंधन को तोड़कर मुक्त होने का आदेश देता है । इस पर वह व्यथित हो उठती है - **'तोड़ डालूँ पिताजी । मैंने जिसे आसुँओं से सींचा, वही दुलार-भरी वल्लरी मेरी आँख बंद कर चलने में मेरे ही पैरों से उलझ गई है । दे दूँ एक झटका-उसकी हरी-हरी पत्तियाँ कुचल जायँ और वह छिन्न होकर धूल में लोटने लगे ? न, ऐसी कठोर आज्ञा ना दो ।'** वह विवेकशीला युवती शकराज के अनुचित कार्य-व्यापार का समर्थन किसी प्रकार नहीं कर सकती है । इस व्यापार में उसे संपूर्ण नारी-जगत का अपमान दिखाई पड़ता है । वह अपने पिता के साथ चली जाती है । शकराज के वध के बाद उसका प्रेम-स्रोत पुनः उमड़ पड़ता है । वह ध्रुवस्वामिनी के पास दैन्य के साथ उसका शव मांगने के लिए आती है - इसी में स्त्रीत्व का शाश्वत रूप प्रकट होता है । शकराज के शव के साथ वह आत्म-विसर्जन कर देती है । कोमा एक ओर प्रेमी के अन्यायपूर्ण दुष्कृत्यों का विरोध करती है और दूसरी ओर प्रेमी के शव के साथ शरीर त्याग कर देती है । वह सच्चे शब्दों में आत्म-समर्पण प्रेमिका के रूप में हमारे सामने आती है ।

16.5. मन्दाकिनी

मन्दाकिनी इस नाटक की दूसरी नारी पात्र है जिसे दुर्भाग्यवश कुछ विद्वान आलोचकों ने ध्रुवदेवी के कंठ से कंठ मिला कर बोलने वाली सहचरी मात्र मान लिया है । उन्हें उसका अपना कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं जान पड़ता । कदाचित उन्हें यह भ्रान्ति इसीलिए हुई है कि वह जो कुछ भी करती है उसमें एक प्रेरणा है, जो ध्रुवस्वामिनी के जीवन की गति को आगे बढ़ाती है । कुछ स्थल ऐसे हैं जहाँ वह ध्रुवस्वामिनी की बातों में बल देती है । ऐसे भी स्थल हैं जहाँ वह उसके हृदगत भावों के शाब्दिक प्रसार का मार्ग निर्दिष्ट करती जान पड़ती है । परंतु इतना होते हुए भी उसका अपना एक स्वतंत्र व्यक्तित्व है, जो विश्लेषण से ही प्रकट

हो सकता है । वह उसके कार्यों में उसी प्रकार छिपा है जिस प्रकार दूध में मक्खन ।

मन्दाकिनी प्रसाद जी की काल्पनिक पात्र है और वह रामगुप्त और चन्द्रगुप्त की बहन के रूप में प्रस्तुत की गयी है । नाटक में स्पष्ट रूप से उसे कहीं उनका बहन नहीं बताया गया है, पर उसका ध्रुवस्वामिनी को भाभी संबोधन और ध्रुवस्वामिनी का भाभी कहने का आग्रह इस बात को स्पष्ट कर देता है । कुछ आलोचकों ने इस ओर ध्यान न देकर उसका सामंजस्य गूँगी खड्गधारिणी से कर लिया है और उसकी गणना परिचारिका के रूप में की है । यदि ध्यानपूर्वक खड्गधारिणी और ध्रुवस्वामिनी की बातचीत देखी जाय तो यह भ्रम अपने आप दूर हो जाता है । ध्रुवस्वामिनी खड्गधारिणी की ओर देखकर पूछती है - **'क्यों मन्दाकिनी नहीं आयी ?'** यह प्रश्न अपने आप बता देता है कि वह खड्गधारिणी से भिन्न है और वह चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के बीच दूती का काम नहीं करती । किन्तु उनका यह भ्रम अकारण भी नहीं कहा जा सकता । मन्दाकिनी का वह स्वगत जिसके सहारे वह मंच पर उपस्थित होती है, उनकी इस धारणा का आधार है । उसके शब्द है - **'गूँगी के अभिनय में महावेदी के हृदय का आवरण तनिक-सा हटा है ।'** इस वाक्य से ऐसा प्रतिध्वनित होता है कि उसने ही गूँगी का अभिनय किया था, किंतु वस्तुतः बात ऐसी है कि उसने किसी को गूँगी खड्गधारिणी बना कर भेजा था । उससे जो बातचीत हुई उसकी ओर उसका लक्ष्य है । यदि यह बात न होती तो ध्रुवस्वामिनी को यह आवश्यकता पूछने को न होती कि 'क्यों मन्दाकिनी नहीं आयी ?' यदि स्वयं वह मन्दाकिनी होती तो इस प्रकार प्रश्न पूछने का कोई प्रसंग ही नहीं उठता । वह उसे पहचान लेती । यदि वह मन्दाकिनी को पहचानती न होती तो उससे इस प्रकार के प्रश्न का प्रयोजन ही क्या होता । प्रसाद जी ने यदि स्वगत के वाक्य कुछ अधिक स्पष्ट कर दिये होते तो यह भ्रम न होता ! जिस ढंग से वह शिखरस्वामी, रामगुप्त

और चन्द्रगुप्त के बीच बोलती है, उस ढंग से बोलने का साहस किसी परिचारिका को नहीं हो सकता ।

स्पष्टतः मन्दाकिनी एक परिचारिका से अधिक ऊँचा स्थान रखती है और ध्रुवस्वामिनी का उसके प्रति आकर्षण है । वह चन्द्रगुप्त के ध्रुवस्वामिनी के प्रति आकर्षण से भी अपरिचित नहीं है । किंतु वह उसको इतना महत्व नहीं देती जितना कि शकराज के संधि-प्रस्ताव को, और उसको चन्द्रगुप्त तक पहुँचाने के लिए अधिक उत्सुक है । उसका अपना एक रूप है । यह न्याय का दुर्बल पक्ष ग्रहण करना चाहती है और उसी पक्ष को प्रबल बनाने के लिए सतत् प्रयत्नशील है ।

मन्दाकिनी के स्वरूप को हम पहली बार उस समय देखते हैं जब संधि-प्रस्ताव स्वीकृत हो गया है, मूर्खों ने स्वार्थ के लिए साम्राज्य के गौरव का सर्वनाश करने का निश्चय कर लिया है । रामगुप्त, ध्रुवस्वामिनी की रक्षा करने में असमर्थ है । मंत्री की मंत्रणा अपनी काम करने जा रही है । उस समय मन्दाकिनी आकर मीठी-तीखी चुटकी लेती है और अपनी उस चुटीली चुटकी के सहारे एक सुबुद्धिपूर्ण सलाह देती है - **'राजा अपने राष्ट्र की रक्षा करने न असमर्थ है, तब भी उस राजा की रक्षा होनी ही चाहिये । अमात्य यह कैसी विवशता है । तुम मृत्युदंड के लिए उत्सुक । महादेवी आत्महत्या के लिए प्रस्तुत । तो फिर यह हिचक क्यों ? एक बार अंतिम परीक्षा करके देखो । बेचोगे तो राष्ट्र और सम्मान भी बचेगा, नहीं तो सर्वनाश ।'**

पर उसकी इस उत्साह भरी बात को वहाँ सुनता कौन ! उनके लिए तो नारी उपेक्षणीय, उपहार की वस्तु थी । निदान उसकी बात अनसुनी कर दी गयी । ध्रुवस्वामिनी का शक-शिविर में जाना ही निश्चित रहा । और हम देखते हैं कि मन्दाकिनी एक वीरबाला की तरह सामंत कुमारों के स्वर में स्वर मिला कर गा उठती है :-

क्रन्दन कंपन न पुकार बने,
निज साहस पर निभरता हो,
अपनी ज्वाला को आप पिये,
नव नीलकंठ की छाप लिये,
विश्राम शान्ति को शाप दिये,
ऊपर ऊँचे सब झेल चले ।

तीसरे अंक में हम उसे भाभी संबोधन कर ध्रुवस्वामिनी के हृदय तल को अनजाने कुरेद देते देखते हैं । किंतु वह उसकी सरलता और उस उत्साह का द्योतक है, जिसका शकराज पर विजय होने से, वह अपने में अनुभव कर रही है । उस बीच पुरोहित के आगमन से ध्रुवस्वामिनी के मन में उलझा हुआ प्रश्न सामने आ जाता है और उसके विवाह की वैधता का प्रश्न पुरोहित को मूक बना देता है । उस समय मंदाकिनी को उसका यह मौन खटक उठता है । धर्मशास्त्रों के प्रति उसके मन में संचित विद्रोह उबल पड़ता है और वह पुरोहित पर बरबस बरस पड़ती है - **'आप बोलते क्यों नहीं ! आप धर्म के नियामक हैं । जिन स्त्रियों को धर्म-बंधन में बाँध कर, उनकी सम्मति के बिना आप उनका सब अधिकार छीन लेते हैं, तब क्या धर्म के पास कोई प्रतिकार, कोई संरक्षण नहीं रख छोड़ते, जिससे वे स्त्रियाँ आपत्ति में अवलम्ब माँग सकें ? क्या भविष्य के सहयोग की कोरी कल्पना से उन्हें आप सन्तुष्ट रहने की आज्ञा देकर विश्राम ले लेते हैं ।'** इस प्रकार वह धर्मशास्त्र की विवेचना करती है ध्रुवस्वामिनी के पक्ष में और साथ ही उसे दया आती है कोमा पर, शकराज के शव पर बलिदान होने की आकांक्षा देख कर - **'स्त्रियों के इस बलिदान का भी कोई मूल्य नहीं । कितनी असहाय दशा है ! अपने निबल और अवलम्ब खोजने वाले हाथों से यह पुरुष के चरणों को पकड़ती है और वह सदैव ही इनको तिरस्कार, घृणा और दुर्दशा की भिक्षा से उपकृत करता है । तब भी यह बावली उसे मानती है ।'** लगता है, खीझ के साथ नारी हृदय में संचित युग-युग की वेदना उफन-उफन कर बाहर आ रही हो ।

वह ध्रुवस्वामिनी की दशा देखकर उन्मत और उत्तेजित हो जाती है - **'नारी हृदय, जिसके मध्यबिन्दु से हटकर, शास्त्र का एक मंत्र कील की तरह गड़ गया है और उसे अपने सरल-प्रवर्तन-चक्र में घूमने से रोक रहा है ।'** और चन्द्रगुप्त को उसे असहाय अवस्था में छोड़ जाते देख उसे ध्रुवस्वामिनी की मनोभावनाओं की याद दिलाती है, दूतों की तरह नहीं, एक कर्त्तव्य-प्रेरक के रूप में - **'हृदय में नैतिक साहस, वास्तविक प्रेरणा और पौरुष की पुकार एकत्र कर सोचिये तो राजकुमार की अब आपको क्या करना चाहिये ? '**

यही नहीं, रामगुप्त के पुरुषार्थ का प्रहसन, अबला पर इतना बढ़ा अत्याचार देखकर वह चुप नहीं रहती । वह रामगुप्त के सम्मुख अपने मन की भावना निर्भीकता से प्रकट कर देती है - **'राजा का भय, मन्दा का गला नहीं घोंट सकता । तुम लोगों को यदि कुछ भी बुद्धि होती तो इस अपनी कुल-मर्यादारूपी नारी को, शत्रु के दुर्ग में यों न भेजते । भगवान ने स्त्रियों को उत्पन्न कर के ही अधिकारों से वंचित नहीं किया है । किंतु तुम लोगों की दास्यु-वृत्ति ने उन्हें लूटा है । इस परिषद् से मेरी प्रार्थना है कि आर्य समुद्रगुप्त का विधान तोड़कर जिन लोगों ने राज किल्विष किया हो उन्हें दंड मिलना चाहिये । ... मैं तुम लोगों को नीचता की गाथा सुना रही हूँ । तुम्हारी प्रवंचनाओं ने जिस नरक की सृष्टि की है उसका अंत समीप है .... कहीं धर्मशास्त्र हो तो उसका मुँह खुलना चाहिये ।'**

इस प्रकार मन्दाकिनी ने अपने शब्दों से समस्त मानव जाति द्वारा प्रताड़ित नारी का चीत्कार, करुण क्रन्दन व्यक्त किया है । समष्टि रूप से नारी का मूक हृदय सुस्वर होकर उसके व्यक्तित्व में मुखरित हो उठा है । मन्दाकिनी का जीवन अपने लिए नहीं है । उसके चरित्र में अपना 'स्व' कहीं झाँकता नहीं दिखाई देता । यही उसके चरित्र की महत्ता है । नाटक में यत्र-तत्र पुरुष को उसके नग्न रूप में रखने और नारी जाति की वकालत करने में ही

उसका व्यक्तित्व निहित है । नारी होने के नाते उसके पास नारी हृदय है, अतः वह दूसरी नारी के हृदय को टटोल सकती है । उसके हृदय की तड़पन का अनुभव कर सकती है और उस तड़पन को लेकर वह नारी स्वातन्त्र्य की दूतिका होकर हमारे सामने आती है ।

इसमें स्वार्थभावना का नितांत अभाव है । वह ध्रुवस्वामिनी को नैतिक साहस के साथ सहयोग देती है । न्यायपक्ष की विजय के लिए वह बड़ी निर्भीकता एवं कुशलता के साथ ध्रुवस्वामिनी को कठोरतम परिस्थितियों में हतसाहस होने नहीं देती ।

कायर रामगुप्त और धूर्त शिखरस्वामी की कुटिलता से व्यग्र होकर कहती है - 'भयानक समस्या है । मूर्खों ने स्वार्थ के लिए साम्राज्य के गौरव का सर्वनाश करने का निश्चय कर लिया है । सच है, वीरता जब भागती है, तब उसके पैरों से राजनीतिक छल-छझ की धूल उड़ती है ।'

विवेक के बल पर वह रामगुप्त और चन्द्रगुप्त की तुलना करती है - **''कुमार चन्द्रगुप्त ! कितना समर्पण का भाव है उसमें ? और उसका बड़ा भाई रामगुप्त !! कपटाचारी रामगुप्त !''**

कोमा के शकराज के शव ले जाने के बाद स्त्रियों के बलिदान की व्यर्थता की कितनी सुन्दर व्याख्या उसने की है - **'स्त्रियों के इस बलिदान का भी कोई मूल्य नहीं । कितनी असहाय दशा है । अपने निर्बल और अवलंब खोजनेवाले हाथों से यह पुरुषों के चरणों को पकड़ती है और वह सदैव ही इनके तिरस्कार, घृणा, और दुर्दशा की भिक्षा से उपकृत करता है । तब भी यह बावली मानती है ?'** वह ध्रुवस्वामिनी के हृदय में चन्द्रगुप्त के प्रति प्रेम जागृत करती है । मन्दाकिनी जो भी करती है कर्तव्यबाधित होकर करती है न कि स्वार्थसाधना के लोभ से ।

मन्दाकिनी की निर्भीकता का परिचय, परिषद के सामने जब

वह सिंह-गर्जना करती है, तब मिलता है । **'राजा का भय, मंदा का गला नहीं घोंट सकता । तुम लोगों को यदि कुछ भी बुद्धि होती तो इस अपनी कुल मर्यादा नारी को, शत्रु के दुर्ग में यों न भेजते ।'** मन्दाकिनी हमारी श्रद्धा की अधिकारिणी है ।

16.6. मिहिरदेव

एक क्षण के लिए सम्मुख आया है, परंतु उसके स्वरूप का विलक्षण प्रभावशाली है । उसका सौम्य उपालंभ उसके व्यक्तित्व को ऊपर उठा देता है । वह एक ओर काम से अभिभूत शकराज को समझाने की चेष्टा करता है कि **'नीति का विश्व-मानव के साथ व्यापक संबंध है और दो प्यार करनेवाले हृदयों के बीच में स्वर्गीय ज्योति का निवास है'** तो दूसरी ओर लताओं, वृक्षों और चट्टानों की शीतल छाया एवं सहानुभूति पर विश्वास करके झरनों के किनारे, दाख के कुंजों में संतोषपूर्वक विश्राम करना अधिक मंगलकारी समझता है । नील-लोहित रंग के धूम्रकेतु को शकदुर्ग की ओर भयानक संकेत करता देखकर वह एक भविष्यदर्शी दार्शनिक शकराज को चेतावनी देता हुआ हमारी होने के कारण दृष्टि से ओझल हो जाता है ।

16.7. पुरोहित

पुरोहित का सर्जन नाटककार ने नाटक में उपस्थित होने वाली धार्मिक अथवा शास्त्रीय परिस्थितियों की जटिलता सुलझाने के लिए किया है । उसमें मानव व्यक्तित्व उतना नहीं है, जितना अपने पद की मर्यादा का गौरव और कर्तव्य पालन की सजगता । रामगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के राक्षस विवाह से उत्पन्न परिस्थिति के प्रति ध्रुवस्वामिनी की खीझ उसे वैवाहिक समस्या पर गंभीरता से विचार करने को विवश करती है और वह निर्भीकता के साथ राजभय की परवाह किये बिना अपना मत व्यक्त करता है - **'स्त्री और पुरुष का परस्पर, विश्वासपूर्वक अधिकार रक्षा और सहयोग ही विवाह कहा जाता है । यदि ऐसा न हो तो धर्म और विवाह**

खेल है ।' और वह शास्त्र के सहारे रामगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के विवाह का खेल सिद्ध करने में सफल होता है । वह कहता है - **'विवाह की विधि ने देवी ध्रुवस्वामिनी और रामगुप्त को एक भ्रान्तिपूर्ण बंधन में बाँध दिया है । धर्म का उद्देश्य इस तरह पददलित नहीं किया जा सकता । माता और पिता के प्रमाण के कारण से धर्म विवाह केवल परस्पर द्वेष से टूट नहीं सकते, परंतु यह संबंध उन नियमों से भी विहीन है । और भी यह रामगुप्त मृत और प्रव्रजित तो नहीं, पर गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मों से क्लीव है । ऐसी अवस्था में रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नहीं ... धर्मशास्त्र रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी को मोक्ष की आज्ञा देता है ।'**

मोक्ष सिद्ध करने के निमित्त ही इस पात्र को सामने रखा गया है । मोक्ष यद्यपि हमारे देश के लिए नवीन नहीं, पर समय के साथ वह भुला दिया गया है । अब समय की माँग को उचित बताने के लिए प्रसाद जी ने शास्त्रसम्मत सामग्री इस पात्र के माध्यम से प्रस्तुत की है । इस पात्र के पीछे प्रसाद जी का व्यक्तित्व समय के साथ बोल रहा है ।

16.8. संवाद

इस नाटक में संवादों का विशेष औचित्य और सौंदर्य युक्त है । अजातशत्रु और स्कंदगुप्त आदि अन्य नाटकों की भाँति इसमें काव्यात्मक शैली के कथोपकथन नहीं हैं । इसमें व्यावहारिकता का प्रयोग अधिक हुआ है । यही कारण है कि निरर्थक विस्तार भी नहीं होने पाया और वस्तु-निवेदन में भी सीधापन है । जहाँ कहीं तर्क-वितर्क के प्रसंग भी आ गए हैं वहाँ व्यवहार-संगत वाद-विवाद ही चला है, उसमें विषय से विच्युत संवाद का अस्तित्व नहीं ज्ञात होता, जैसा कि अजातशत्रु में शक्तिमती और दीर्घपारायण का अथवा स्कंदगुप्त में बौद्धों एवं ब्राह्मणों का हो गया है । इस नाटक में ध्रुवस्वामिनी और पुरोहित अथवा शकराज और कोमा के संवादों में अनंग-कथन का भय था, परंतु नाटककार ने सफलतापूर्वक उस

रूक्षता से पीछा छुड़ाया है । वे ही स्थल विशेष आकर्षक हैं क्योंकि उनमें पूर्ण व्यावहारिकता का विचार रखा गया है । साधारण बातचीत में कोई पक्ष रूककर दूसरे पक्ष के व्याख्यान सुनने और उत्तर देने का अवसर पाने की प्रतीक्षा को सहन नहीं कर सकता । इसलिए बातचीत खंडशः उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप में होती चलती है ।

संवादों की दूसरी विशेषता है अतिविस्तार । प्रथम एवं द्वितीय अंकों के आरंभ में ध्रुवस्वामिनी एवं कोमा के स्वगत भाषणों को छोड़कर और कोई स्थल अधिक विस्तारयुक्त नहीं है । अंकों के आरंभ में होने के कारण इनका भी अधिक्य उतना खलता नहीं । इसके अतिरिक्त इन अंशों में उद्वेग होने के कारण भी आकर्षण बना रहता है । ऐसे स्थलों को छोड़कर सर्वत्र संवाद सरल और अविस्तृत ही मिलेंगे । इस लघुता का आनंद खड्गधारिणी-ध्रुवदेवी, रामगुप्त-शिखरस्वामी, शकराज-कोमा, शकराज-चन्द्रगुप्त-ध्रुवदेवी, तथा ध्रुवदेवी-पुरोहित इत्यादि के संवादों में देखा जा सकता है ।

तीसरी विशेषता है तीव्र संवेग । संपूर्ण नाटक में संवाद बड़े ही वेगयुक्त और आवेशपूर्ण हैं । इस नाटक के संवादों की यही सबसे बड़ी विशेषता है । ध्रुवदेवी चंद्रगुप्त और मंदाकिनी उन पात्रों में हैं जिनके संवादों में प्रधानतः संवेग दिखाई पड़ता है । इसका कारण स्पष्ट है, ध्रुवदेवी और चंद्रगुप्त को ही अधिक उद्वेग करना पडा है और अपने अधिकारों के लिए उच्च स्वर से चिल्लाना पड़ा है । सबसे अधिक अन्याय भी उन्हीं के प्रति हुआ है और सारा दायित्व उनको ही वहन करना पड़ा है । अतएव उनके स्वर में तीखापन और आवेश होना प्रकृत ही है । इनके वेगपूर्ण संवादों के कारण नाटक में आद्यंत रंगमंचीय अनुकूलता उत्पन्न हो गई है । साथ ही कहीं-कहीं संवादों में साभिप्राय वक्रता एवं विदग्धता भी मिलती है, जिससे विशिष्ट रचना-चातुरी प्रकट होती है । बौना, हिजड़ा और कुबड़ा के कथोपकथन में इस प्रकार की सुंदरता स्पष्ट दिखाई पड़ती है ।

16.9. अन्य विशेषताएँ - पद्धति की नवीनता

रचना-पद्धति की नवीनता के विचार से यह रचना पूर्व रचनाओं से सर्वथा भिन्न है । वस्तु-विन्यास, चरित्रांकन, संवाद इत्यादि के विचार से भी इसमें न रूप प्रकट होता है । वस्तु के तीन अंश केवल तीन अंकों और तीन ही दृश्यों में इस क्रम से रख दिए गए हैं कि तीन भिन्न-भिन्न स्थलों के घटना-व्यापारों को लेकर सुसंगत रूप से एक पूरी कथा स्थापित हो जाती है । वेश-भूषा, स्थिति-परिचय और रंगमंचीय सजावट आदि के विषय में विस्तृत निर्देश देने की वर्तमान परिपाटी इसी नाटक में प्रवेश पा सकी है । इसके पूर्व के नाटकों में लेखक इनके विषय में प्रायः चुप ही दिखाई देता है । इस विस्तृत निर्देश के कारण अभिनेता और प्रबंधक, विषय के अधिक समीप पहुँच सकते हैं और यथार्थता का निर्वाह भी सरलता से हो सकता है । चरित्रांकन की नवीनता इस प्रकार से देखी जा सकती है कि कहीं भी किसी पात्र की प्रवृत्ति विशेष दिखाने के विचार से घटना-व्यापार बढ़ाने की आवश्यकता नहीं पड़ी । कार्य के धारा-प्रवाह में जिस पात्र की जो-जो मानसिक प्रवृत्तियाँ प्रकट होती गई हैं, वे अपने-आप स्पष्ट हैं । यही कारण है कि आधुनिक ढंग की पाश्चात्त्य प्रणाली का चरित्रांकन इसमें नहीं स्वीकार किया है ।

16.10. अभिनयात्मकता

अभिनयात्मकता इस नाटक की दूसरी विशेषता है । रंगमंच की अनुकूलता का जितना विचार इसमें दिखाई पड़ता है उतना चंद्रगुप्त आदि नाटकों में नहीं है । थोड़े से थोड़े पटों में परिवर्तन से सारा नाटक अभिनीत हो सकता है । अन्य नाटकों में स्थान-स्थान पर निरंतर इतने अधिक परिवर्तन की आवश्यकता पड़ती है कि कहीं तो उनका स्थापन अव्यावहारिक हो उठता है और कहीं असंभव । ऐसी अवस्था में या तो उस दृश्य में इतना उलट-फेर करना पड़ता है कि वांछित रूप विकृत हो जाता है

अथवा एक नवीन ही वस्तु की उद्‌भावना हो उठती है और उसका प्रभाव विरूद्ध हो जाता है । इस नाटक में केवल एक यवनिका और दो पटों से सारा काम चल सकता है, यदि धन और साधन अनुकूल हो तो तीनों अंकों के बीच में प्रसंगानुसारदोहरे पटों का प्रबंध करने से सौंदर्य और आकर्षण बड़ाया जा सकता है । पाश्चात्य शास्त्रीय संकलन-त्रय का प्रकृत निर्वाह इस नाटक में स्वयं ही हो गया है । सभी घटना-व्यापार प्रायः समीप के ही स्थान में घटित होते हैं । इसलिए एक पट पर्वत प्रदेश का और दूसरा दुर्ग-प्रांगण अथवा प्रकोष्ठ का आवश्यक हे । सारी कार्यावली इसी प्रसार के भीतर दिखाई जा सकती है । इस रंगमंचीय व्यवस्था के अतिरिक्त संवादों की वेगयुक्त तीव्रता और सक्रियता इस नाटक को अभिनेय बनाने में विशेष रूप से सहायक हुई ।

16.11. ध्रुवस्वामिनी नाटक की समस्या

इधर कुछ दिनों से पाश्चात्य देशों में यथार्थवाद के प्रभाव में समस्या-नाटक की अधिक होने लगी हैं । किसी समस्या को लेकर जो समष्टि-प्रभाव की स्थापना नाटकों में की जाती है वह प्रभावपूर्ण होने पर भी अत्यंत रूक्ष होता है । उसका प्रधान कारण है वस्तु की एकनिष्ठता और समस्या की सर्वाभिभावकता । समस्या के रूप को खड़ा करने में ही लेखक का सारा कौशल समाप्त हो जाता है और इसी कारण नाटकत्व की उपेक्षा होती है । उनका रूप प्रायः संवादों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत-लेख-सा दिखाई पड़ने लगता है । समस्या को जीवन का एक अंग मानकर यदि उसी के उतार-चढ़ाव के साथ इसे लगा दिखाया जाय अर्थात् यदि समस्या को अंग और जीवन को अंगी मानकर किसी नाटक में रखा जाए तो अधिक रुचिकर एवं प्रभविष्णु होगा । 'प्रसाद' ने भी ध्रुवस्वामिनी नाटक में जहाँ रचनापद्धति की नवीनता का उपयोग कर उसे अभिनेय बनाने की पूरी चेष्टा की है वहीं बड़े कौशल से उसमें एक समस्या का समावेश भी किया है ।

इस नाटक में **नारी समस्या** प्रधान है । यह विषय सार्वभौम एवं सार्वकालिक है । समाज, कुटुंब और कर्मकांड एवं धर्मशास्त्र में स्त्री का क्या स्थान है ; सिद्धांत तथा व्यवहार में कहाँ और क्यों अंतर आता है ; इस अंतर के कारण लोकमंगल-विधान में क्या व्याघात पड़ जाता है - इत्यादि अनेक प्रश्न इसी प्रसंग पर खड़े होते हैं । उन्हीं पश्नों का उत्तर है - विवाह-पद्धति, पति-पत्नी का संबंध, दोनों का व्यक्तिगत एवं पारस्परिक धर्म । इस नाटक में इन्हीं प्रश्नों को लेकर कथा चलती है । सारे व्यापार इसी नारी-समस्या से संबंध जोड़कर चलते हैं । केवल राजकुल की नीति से प्रभावित होकर, वर और कन्या की प्रकृति, योग्यता एवं रूचि इत्यादि का बिना विचार किए जो ध्रुवस्वामिनी को रामगुप्त से बाँध दिया गया है, वह उचित हुआ या नहीं, यह विचार का विषय है और यदि सब प्रकार से यह प्रमाणित हो कि यह धर्म तथा व्यवहार की दृष्टि में अनुचित हो गया तो फिर क्या व्यवस्था दी जानी चाहिए - यही प्रश्न है - यही समस्या है ।

ध्रुवदेवी और रामगुप्त का जो असम और राक्षस विवाह हुआ है उसका परिणाम व्यष्टि और समष्टि दोनों के लिए अमंगलकारी सिद्ध होता है । आरंभ से ही दोनों में विरोध चल पड़ता है। रामगुप्त सब प्रकार से अपने को अयोग्य, दुर्बल और अपवित्र प्रमाणित करता चलता है । यहाँ तक कि अपने पति-पद के अस्तित्व को भी अस्वीकार कर देता है - **'मैंने ऐसी कोई प्रतिज्ञा न की होगी !! मैं तो उस दिन द्राक्षारस में डुबकी लगा रहा था । पुरोहितों ने न जाने क्या-क्या पढ़ा दिया होगा । उन सब बातों का बोझ मेरे सिर पर कदापि नहीं ।'** किसी प्रकार की आज्ञा देने के लिए अपने को अनधिकारी प्रमाणित कर देता है । फिर भी अपना पशुत्वपूर्ण हुक्म ध्रुवदेवी पर लगाना चाहता है - **'जाओं, तुमको जाना पड़ेगा । तुम उपहार की वस्तु हो ..... ! आज मैं तुम्हें किसी दूसरे को दे देना चाहता हूँ । इसमें तुम्हें क्या आपत्ति है ?'** ध्रुवस्वामिनी का आर्तस्वर-पूर्ण प्रश्न भी - **'मेरे पिता ने उपहार-स्वरूप कन्या-दान किया था । मेरा स्त्रीत्व का भी अधिकारी**

नहीं कि अपने को स्वामी समझनेवाला पुरूष उसके लिए प्राणों का पण लगा सके' - निरर्थक हो जाता है । ऐसी स्थिति में पति-पत्नी संबंध कैसा ? अतएव धर्माधिकारी की ही व्यवस्था फिर चली है - **'विवाह की विधि ने देवी ध्रुवस्वामिनी और रामगुप्त को एक भ्रांतिपूर्ण बंधन में बाँध दिया है । धर्म का उद्देश्य इस तरह पददलित नहीं किया जा सकता । माता और पिता के प्रमाण के कारण से धर्म-विवाह केवल परस्पर द्वेष से टूट नहीं सकते, परंतु यह संबंध उन प्रमाणों से भी विहीन है । यह रामगुप्त जिसे अपनी स्त्री को दूसरे की अंकगामिनी बनने के लिए भेजने में संकोच नहीं वह क्लीव नहीं, तो क्या और क्या है ? मैं स्पष्ट कहता हूँ कि धर्मशास्त्र, रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष की आज्ञा देता है ।'**

नाटक में दूसरी भी समस्या है । इसका भी विचार आदि काल से ही होता आया है । यदि राजा दुर्बल, अक्षम और अत्याचारी हो तो राज्य के कल्याण के विचार से उसके स्थान पर योग्य व्यक्ति की स्थापना का भार सदैव प्रजा के प्रतिनिधियों पर होना ही चाहिए । रामगुप्त राजनीतिक षड्यंत्र के कारण सच्चे उत्तराधिकारी के स्थान पर शासक बना ; परंतु अपने दायित्व का निर्वाह करने मे असमर्थ होने से सर्वथा अयोग्य प्रमाणित होता है । साम्राज्य और पूर्व-पुरुषों के गौरव के अनादर का कारण बनता है, निरर्थक शकों का संहार करके अत्याचार और पाप करता है । इसलिए सामंतकुमार उसे पदच्युत कर देते हैं ।

वर्तमान समस्या

अन्य नाटककारों की भाँति 'प्रसाद' ने केवल समस्या ही खड़ी नहीं की है वरन उनके उत्तर की भी व्यवस्था ही है, इसमें तर्क और बुद्धि का योग जहाँ तक संभव है वह भी उपस्थित किया गया है । ऐसा करके उन्होंने अपने को उन दोषों से बचाया है जिनके कारण उक्त नाटककारों की रचनाओं में हृदय के योग का अभाव रहता है । नाटक का प्राण है रसोद्रेक । यह उस समय तक नहीं हो सकता जब तक उत्तर पक्ष का संकेत नहीं मिलता ।

'प्रसाद' ने प्रथम समस्या का उत्तर दिया-मोक्ष और दूसरे का-परिवर्तन । इस मोक्ष और परिवर्तन से जिस फल की अन्विति उत्पन्न हुई है, उसी में भारतीयता का सच्चा स्वरूप दिखाई पड़ता है ।

16.12. रस

इस नाटक में वीररस की प्रधानता है, अवश्य ही सहायक रूप में श्रृंगार भी दिखाई पड़ता है । स्थायी भाव उत्साह है, जो ध्रुवस्वामिनी के प्रत्येक व्यापार में उपस्थित है । आलंबन रामगुप्त है क्योंकि उसी के कारण ध्रुवदेवी को उत्साह-भरे प्रयत्न करने पड़ते है । शकराज का प्रसंग उद्दीपन-रूप है । उसकी संधि के प्रस्ताव को लेकर रामगुप्त की दुर्बलता अधिक निखर उठती है और उसी से स्थायी भाव उद्दीप्त होता है । रामगुप्त का शक-संहार भी उद्दीप और विभाव के ही अंतर्गत आता है । अनुभव-पक्ष का चित्रण तो नाटक भर में दिखाई पड़ता है । प्रथम अंक में वे सब स्थल इसके उदाहरण हैं, जहाँ बारंबार ध्रुवस्वामिनी ने दर्प, आत्मविश्वास और दृढ़तायुक्त वचन कहे हैं । शकराज-वध की सारी तैयारी और धर्माधिकारी एवं सामंतों के सम्मुख किया गया अपने पक्ष का स्पष्टीकरण और समर्थन अनुभाव ही है । वितर्क, स्मृति, धृति, हर्ष, गर्व, औत्सुक्य, उग्रतादि संचारी भाव हैं, जो स्थल-स्थल पर प्रसंग के अनुसार आते गए हैं । पुरोहित को देखकर ध्रुवस्वामिनी में पुरानी स्मृति जग पड़ती है - **'इन पुरोहित जी ने उस दिन कुछ मंत्रों को पढ़ा था, उस दिन के बाद मुझे कभी राजा से सरल संभाषण करने का अवसर ही न मिला । अथवा 'क्या वह मेरी भूल न थी जब मुझे निर्वासित किया गया, तब मैं अपनी आत्ममर्यादा के लिए कितनी तड़प रही थी और राजाधिराज रामगुप्त के चरणों में रक्षा के लिए गिरी ।'** इत्यादि स्मृति का उदाहरण है । उग्रता का स्वरूप अंतिम अंक के अंत में अच्छा दिखाई पड़ता है । अथवा प्रथम अंक में उस स्थल पर जहाँ ध्रुवदेवी आत्महत्या तक के लिए उद्यत हो जाती है । शकराज के यहाँ जाने के पूर्व की स्थिति धृति

का अच्छा रूप है - 'तो कुमार ! हम लोगों का चलना निश्चित ही है । अब इसमे विलंब की आवश्यकता नहीं ।' आत्महत्या के समय सहसा चंद्रगुप्त के आगमन से आश्रय पक्ष में आवेग उत्पन्न दिखाई पड़ता है । अपनी सहायता में उसे तत्पर होते देखकर हर्ष का संचार होता है । स्थान-स्थान पर संचारियों का अच्छा चित्रण मिलता है । इस प्रकार विभावानुभावव्यभिचारी के संयोग से वीररस की निष्पत्ति हुई है ।

16.13. संदर्भ ग्रन्थ

1. जयशंकर प्रसाद - ले.श्री नन्ददुलारे वाजपेयी
2. प्रसाद जी की कला - सं.श्री गुलाबराय
3. प्रसाद साहित्य और समीक्षा - ले.रामरतन भटनागर
4. जयशंकर प्रसाद - नाट्यशिल्प और कृतियों का मूल्याँकन - ले. सजीशबहादुर वर्मा
5. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध - ले. जयशंकर प्रसाद
6. प्रसाद और उनका साहित्य - ले.विनोदशंकर व्यास
7. प्रसाद, जीवनदर्शन कला और कृतित्व - सं महावीर अधिकारी
8. प्रसाद का विकासात्मक अध्ययन - ले. किशोरलाल गुप्ता

16.14. बोध प्रश्न

1. शकराज का चरित्र-चित्रण कीजिए ।
2. शिखिरस्वामी का पात्र-परिचय दीजिए ।
3. ध्रुवस्वामिनी नाटक की समस्या पर लिखिए ।

NOTES

NOTES

NOTES

ಆದೇಶ ಸಂಖ್ಯೆ : ಕರಾಮುಒ/ಅಸಾವಿ/4–060/2013–2014 ದಿನಾಂಕ : 24–09–2013
ಒಳಪುಟ : 60 GSM MPM ವೈಟ್ ಪ್ರಿಂಟಿಂಗ್ ಪೇಪರ್ ಮತ್ತು ಹೊರಪುಟ: 170 GSM ಆರ್ಟ್‌ಕಾರ್ಡ್
ಮುದ್ರಕರು : ಅಭಿಮಾನಿ ಪಬ್ಲಿಕೇಷನ್ ಲಿ., ಬೆಂಗಳೂರು–10 ಪ್ರತಿಗಳು : 1,200

Karnataka State Open University

Manasagangotri Mysore - 570 006

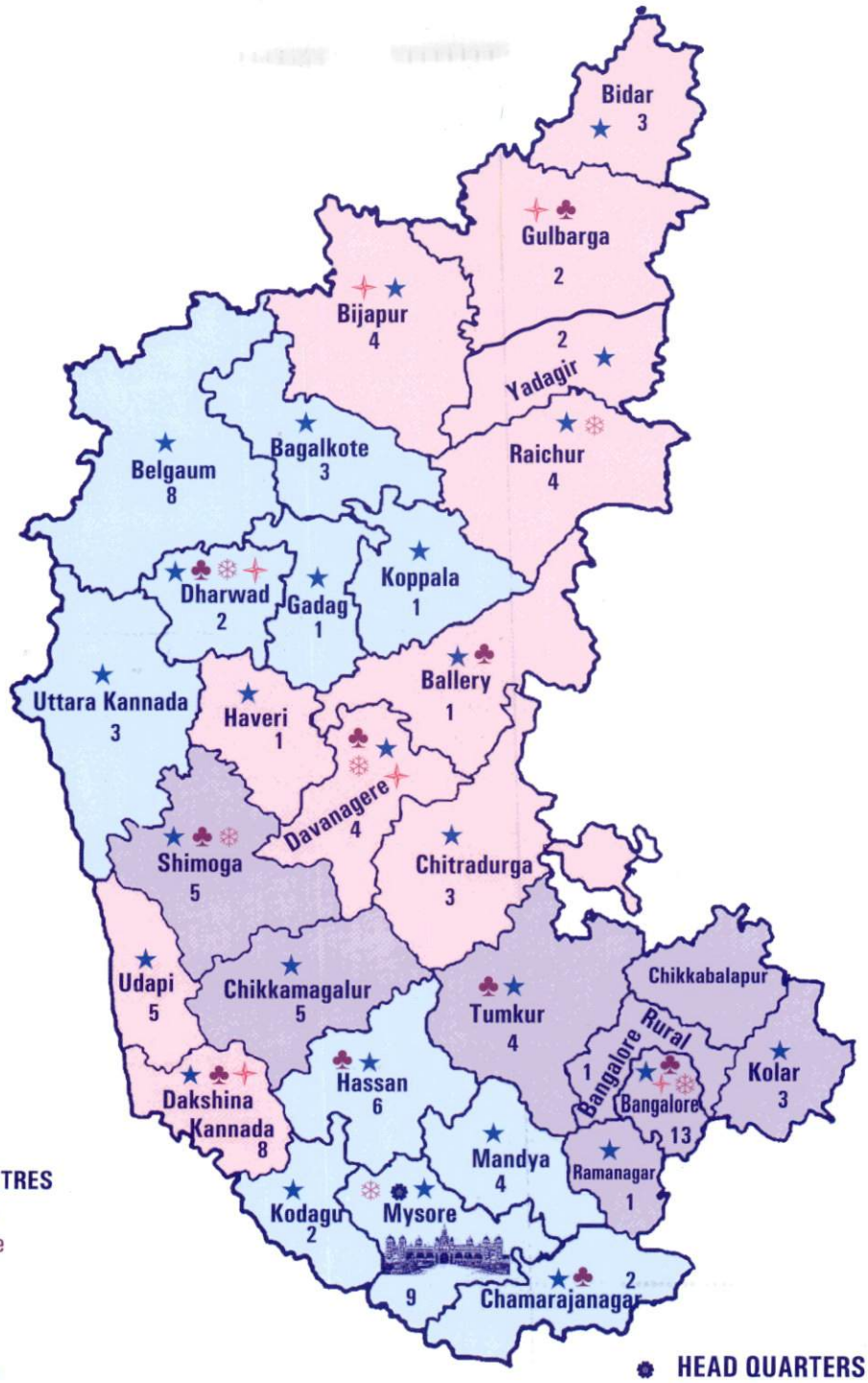

♣ REGIONAL CENTRES

Bangalore
Davanagere
Gulbarga
Dharwad
Shimoga
Mangalore
Tumkur
Hassan
Chamarajanagar
Bellary

● HEAD QUARTERS

★ Total Study Centres : 111

♣ Regional Centres : 10

❄ B.Ed Study Centres : 10

✦ M.Ed Study Centres : 08

Karnataka State Open University

Manasagangothri, Mysore - 570 006.

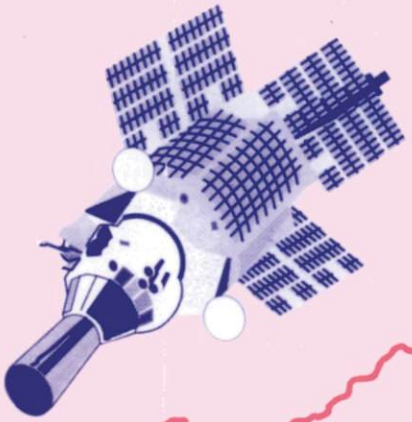

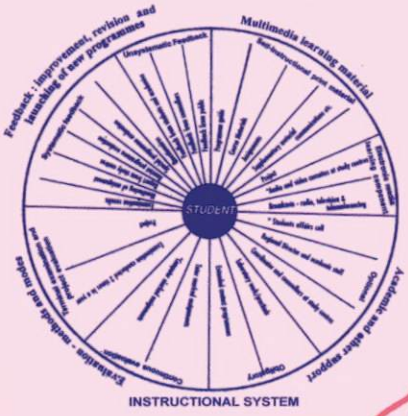

INSTRUCTIONAL SYSTEM

INSTRUCTIONAL SYSTEM